ए क्त धम्मो

THE SELF

अत्तानं चे पियं जञ्ञा, रक्खेय्य नं सुरक्खितं।
तिण्णमञ्ञतरं यामं, पटिजग्गेय्य पण्डितो।।

अर्थ : अपने को यदि प्रिय समझे, तो अपने को सुरक्षित रखे। पण्डित तीनों में से किसी एक पहर में अवश्य जागरण करे।

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के प्रति सजग है व स्वशासित है, उसका कल्याण निश्चित है। आचरण की प्रमादोत्पादकता एवं स्व-दमन आदि पर इस वर्ग की गाथाओं में अच्छा प्रकाश डाला गया है। व्यक्ति को 'अत्त दीपो भव' का दार्शनिक ही नहीं, अपितु व्यवहारिक सन्देश इन गाथाओं में भरा पड़ा है। दुनिया की किसी भी ताकत में उसका मालिकपना छुपा हुआ नहीं है, उसका स्वामित्त्व उसके अपने अन्दर ही है। अस्तु, प्रत्येक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने उस प्रकाश पुंज को जाग्रत करे।

आत्मा, परमात्मा व ब्रह्म परमेश्वर आदि शक्तियों से परे यह ऐसा तत्त्व है, जिसका कोई स्वरूप नहीं है। अगर उसको कोई नाम भी देना पड़े तो वह 'अनात्म' ही कहा जा सकता है। वह शून्य ही निरूपित किया जा सकता है।

इस वर्ग में 10 गाथाओं का संकलन हुआ है, जिसमें से 7 गाथाएं बौद्ध-जगत् में प्रसिद्ध स्वनाम धन्य जेतवन विहार में कही गयी हैं, दो गाथाएं राजगृह के वेणुवन में, एक गाथा (गाथा सं. 157) भेसकलावन से सम्बंधित है। बोधिराज कुमार का मंगल गृह प्रवेश हो या योगाभ्यासी तिस्सथेर, देवदत्त आदि की कथाएं हों, सभी यह सन्देश देती है कि अप्रमादरत हो प्रज्ञावान बनना चाहिए, किसी की पूजा, अर्चना या बाहरी आडम्बर से अपना भला या कल्याण नहीं हो सकता है। दुराचरण से बचने एवं सदाचार को ग्रहण करने की पूरी-पूरी सीख इन गाथाओं में उपदिष्ट है। बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर ने इस वर्ग की सभी गाथाओं का उपयोग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भगवान बुद्ध और उनका धम्म' में एक से अधिक बार किया है।

12. अत्त वग्गो

2. गाथाएं

वग्ग 12, गाथा 1

अपने को सुरक्षित रखें

(बोधिराज कुमार की कथा, स्थान—सुंसुमारगिरि, भेसकलावन)

157. एक बार संसुमारगिरी के राजकुमार बोधि ने कोकनद नामक एक भव्य महल बनाया। जब प्रासाद तैयार हो गया, तब उसने गृह-प्रवेश-मंगल किया। उस समय शास्ता भेसकलावन में विहार कर रहे थे। मंगल दिवस पर बोधिराजकुमार ने महल में भगवान बुद्ध को भिक्खुसंघ के साथ आमन्त्रित किया। इस विशेष अवसर पर पूरे महल को वन्दनवारों से सजाया, तेल और इत्र से सुगन्धित किया और शामियाना आदि लगवाकर अति मोहक और सुन्दर बनाया तथा भगवान के आने के रास्ते पर लम्बा सा कपड़ा बिछाकर उनके स्वागत हेतु खड़ा हो गया।

जब भगवान का आगमन हुआ तो बोधिराज कुमार ने उनको आदरपूर्वक अन्दर आने के लिए कहा। बोधिराज ने तीन बार निवेदन किया, परन्तु भगवान ने आगे बढ़ने की अपेक्षा आनन्द की ओर देखा। आनन्द ने स्थिति को भांपते हुए राजकुमार से उस वस्त्र को हटाने का निवेदन किया, जो कि दहलीज पर बिछा रखा था। राजकुमार ने इसका कारण जानना चाहा, तब भगवान ने राजकुमार से पूछा कि क्या उसने यह शपथ नहीं ली है कि इस पर अगर बुद्ध अपनी पद-छाप छोड़ेंगे तो उसको पुत्र की प्राप्ति होगी। राजकुमार ने सहमति में सिर हिलाया।

भगवान ने उसे बताया कि राजकुमार तुम्हें व तुम्हारी पत्नी को पूर्वजन्मों के बुरे कृत्यों की वजह से पुत्र प्राप्ति नहीं हो रही है और इस बात को लक्ष्य करके एक कथा सुनायी, "एक बार जहाज

के डूब जाने पर उनमें सवार यात्री मारे गए। सिर्फ यह राजकुमार और इसकी पत्नी बचे रह गए। उस निर्जन जंगल में जीवन यापन का कोई सहारा नहीं था। अस्तु, इन्होंने बेरहमी से कई पक्षी मारे, उनके अण्डों को फोड़ा। ऐसा करते वक्त उनमें किसी भी प्रकार की दया, या अपत्रपता की कोई भावना तक नहीं थी, क्षुधातृप्ति के अलावा भी वे ऐसे कृत्यों में निर्दयता से संलग्न रहे, संलिप्त रहे, जिसकी वजह से इनको पुत्र सुख से वंचित रहना पड़ रहा है। अगर वे अपने जीवन में कभी भी इनके प्रति थोड़ा सा भी पश्चाताप कर लेते, तो उनके एक या दो पुत्र होते। परन्तु उन्होंने अपने भव की चिन्ता किए बगैर ऐसा किया। यह अपने से कैसी प्रीति है ?

"यदि वह आत्म (स्वयं) को प्रिय समझता तो इसकी अच्छी तरह से रक्षा करता, पण्डित मनुष्य रात्रि के तीनों भागों में से एक में अवश्य जाग्रत रहता है। अगर स्वयं को प्रिय समझें, तो इसे सुरक्षित यानी संयत भी रखें। विद्वान् मनुष्य जीवन के तीन भागों (अवस्थाओं) में से किसी एक में अवश्य जाग्रत रहे। तथागत ने बताया— आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, परन्तु मन तो होता ही है, और यह मन ही 'भव' है। नाम-रूप को जगत् में लोग आत्मा समझ लेते हैं। यह आम समझ का शब्द है, जिसे लोग आत्मा भी कहते हैं, परन्तु शरीर से पृथक रहने वाला कोई आत्मा नहीं है। जो अपना भला चाहता है, उसे अपने मन को या भव को अच्छी तरह से संयत रखना चाहिये।" भगवान ने ऐसा कहते हुए गाथा कही—

157. अत्तानं चे पियं जञ्ञा, रक्खेय्य नं सुरक्खितं।
तिण्णमञ्ञतरं यामं, पटिजग्गेय्य पण्डितो।। 12.1।।

अर्थ : *अपने को यदि प्रिय समझें, तो अपने को सुरक्षित रखें। पण्डित तीनों में से किसी एक पहर में अवश्य जागरण करे।*

शब्दार्थ : जञ्ञा = समझे। **रक्खेय्य नं** = इसे रक्खें। **तिण्णं** = तीन में से। **यामं** = रात्रि या दिन का तीन घन्टे का समय। बुद्धघोस ने तीन याम का अर्थ जीवन की तीन अवस्थाओं—प्रथम, मध्यम और पश्चिम किया है। **पटिजग्गेय्य** = जाग्रत रहें।

वग्ग 12, गाथा 2

पहले अपने को सम्हाले

(उपनन्द सक्कपुत्त की कथा, स्थान—जेतवन)

158. उपनन्द सक्कपुत्तथेर वाकपटु भिक्खु था, वह प्रवचन देने में बहुत माहिर था, वह लोगों को धारा प्रवाह प्रवचन के माध्यम से बताता था कि जीवन में कम से कम आवश्यकताएं होनी चाहियें, त्याग से रहना चाहिये, सन्तोष को जीवन में धारण करना चाहिये, कभी भी लालच नहीं करना चाहिये। परन्तु यह सब उसका मात्र भाषण होता था, उसका खुद का व्यवहार ठीक इसके विपरीत था, वह श्रद्धालुओं द्वारा दी गई भेंट आदि को बटोर कर खुद ही अपने पास रख लेता था, किसी और को नहीं देता था। उसके लालच की सीमा यहां तक बढ़ी हुई थी कि जो

भी उपासक प्रवचन के बाद चीवर आदि देते थे, वह उनको एकत्रित कर स्वयं ही ले लेता था और तुरंत आवासिक स्थल में चला जाता था।

एक बार वर्षावास से पहले उपनन्द एक ग्रामीण विहार से गुजरा। वहां पर जो प्रव्रजित भिक्खु थे, वे उपनन्द के वाक-चातुर्य से प्रभावित थे, मोहित थे, वे उपनन्द को अपने साथ रखना चाहते थे, साथ ही वर्षावास बिताना चाहते थे। अस्तु, इस चाह से उन्होंने उपनन्द से निवेदन किया, "पूज्य भंते ! इस वर्षावास को हमारे विहार में बिता कर हमें अनुगृहीत करें।" उपनन्द ने जानना चाहा कि वे वर्षावास में कितने चीवर प्राप्त करते हैं। भिक्खु बोले, "पूज्यवर ! प्रायः हम लोग एक-एक चीवर प्राप्त करते हैं।" वह तुरंत बोला कि उसे जाना जरूरी है, वह रुक नहीं सकता है और ऐसा कह कर वह वहां से चल दिया। जाने से पूर्व वह अपने जूते वहीं छोड़ गया।

उपनन्द थेर विहार करते हुए दूसरे विहार में प्रविष्ट हुआ। वहां भी भिक्खु उसे अपने पास रखना चाहते थे, परन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि यहां भी प्रति भिक्खु दो चीवर ही मिलते हैं, तो वह आगे बढ़ गया और अपना डण्डा वहां छोड़ दिया। आगे गया एक विहार और आया। वहां उसे मालूम हुआ कि यहां प्रति भिक्खु तीन चीवर प्राप्त होते हैं, तो उसने अपने पानी के पात्र को वहां छोड़ दिया और आगे का रास्ता पकड़ा। इसी प्रकार आगे के विहार में उसे मालूम हुआ कि यहां प्रत्येक भिक्खु वर्षावास में चार चीवर प्राप्त करते हैं, तो वह वहां रुक गया।

वर्षावास खत्म हुआ, उसने अपना हिस्सा लिया और वापस उन विहारों की ओर कूच किया, जहां-जहां वह अपना सामान रख आया था। वहां जाकर उसने अपना हिस्सा मांगा। उसने बताया कि उसके होने या नहीं होने से कोई फर्क नहीं पड़ता है। उसके प्रतीक के रूप में, प्रतिनिधि के रूप में उसकी वस्तुएं यहीं रखी थीं। अतः विहार की उपहार सामग्री में उसका भी हिस्सा बनता है, उसे वह हिस्सा दिया जाना चाहिये। इस प्रकार अपने वाक-चातुर्य से उसने अन्य विहारों से भी सामान बटोरा और एक गाड़ी में रखकर अपने विहार की ओर चल पड़ा।

रास्ते में उसे दो भिक्खु मिले, वे आपस में झगड़ रहे थे। उन दोनों को चीवर और एक बहुमूल्य कम्बल प्राप्त हुआ था, उसका बंटवारा वे नहीं कर पा रहे थे। वे उलझे हुए थे, मामला सुलझ नहीं रहा था। उपनन्द को आते हुए देख उन दोनों ने उपनन्द से प्रस्ताव किया कि उनका मामला सुना जाय और कोई माकूल हल निकाल दिया जाय। उपनन्द ने एक चीवर दोनों को देते हुए कहा, "यह तुम्हारा हिस्सा है और यह रेशमी कम्बल मेरा हिस्सा है।" भिक्खुओं ने पूछा, "पूज्य भन्ते ! ऐसा क्यों ?" उपनन्द का जवाब था, "मैने तुम्हारा ! निर्णय किया है। अतः इसका अधिकारी मैं ही हूं, मेरा भी तो हिस्सा है।"

दोनों भिक्खु ठगे के ठगे रह गए, वे कर भी क्या सकते थे, खुद आपस में सुलझ नहीं सके। अस्तु, दूसरे को मौका दिया था। उनके सामने इसको स्वीकार करने के अलावा दूसरा कोई चारा नहीं था। बड़े खिन्न मन से, उदास चित्त से उन्होंने इसे स्वीकार किया। उनके मन में इतना दर्द था कि वे उसे छुपा नहीं सके। वे भगवान के पास जेतवन विहार जा पहुंचे। भगवान की वन्दना की, अभिवादन किया। भगवान ने कुशल क्षेम पूछा और बात चल पड़ी। भिक्खुओं ने आप बीती बतायी।

भगवान बोले, "भिक्खुओ ! जो दूसरों को शिक्षा देता है, उसे वह शिक्षा पहले अपने पर लागू करनी चाहिये। उसे अपने आचरण में लाना चाहिये। कोई भी बात तभी प्रभावकारी होती है जब करने वाला खुद उस रास्ते पर चलता हो। इसके विपरीत होने पर वह क्लेश को ही प्राप्त होता है। अपने को सन्मार्ग पर लगाओ। अपने को बुद्ध-प्रकृति में जाग्रत करो, उसे हृदयंगम करो। अपने को सन्मार्ग में लगाकर उपदेश देओगे, तो तुम्हें क्लेश नहीं होगा। भिक्खुओ ! दूसरे को उपदेश देने वाले को अपने को ही उचित काम में लगाना चाहिये।" यह कहकर भगवान ने गाथा कही—

158. अत्तानमेव पठमं, पतिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य, न किलिस्सेय्य पण्डितो॥ 12.2॥

अर्थ : पहले अपने को ही उचित (काम) में लगावें, बाद में दूसरे को उपदेश दें। इस तरह पण्डित क्लेश को प्राप्त नहीं होता।

शब्दार्थ : पतिरूपे = सन्मार्ग में (अनुच्छविके गुणे पतिट्ठापेय्य—बुद्धघोस)। **अनुसासेय्य** = अनुशासित करे अर्थात् उपदेश दे। **किलिस्सेय्य** = क्लेश को प्राप्त हो।

वग्ग 12, गाथा 3

अपना दमन ही कठिन है

(योगाभ्यासी तिस्स थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

159. योगाभ्यासी पधानिक तिस्स थे। शास्ता से कर्मस्थान ग्रहण कर पांच सौ भिक्खुओं के साथ अरण्य में ध्यान-विपश्यना हेतु चले गए। वह वहां पर रहते हुए दूसरे भिक्खुओं को उपदेश देता, "आवुसो! तुम लोगों ने बुद्ध के पास कर्मस्थान ग्रहण किया है, इस प्रकार श्रमण धर्म का पालन करो, समण धम्म की राह पर चलो।" ऐसा उपदेश देकर पधानिक तिस्स थेर सो जाया करता था। अन्य भिक्खु तिस्स थेर की अनुपालनार्थ पूरी लगन से ध्यानाभ्यास करते, भिक्खु रात्रि के पहले पहर में ध्यान-विपश्यना कर सोने को जाते थे, तो वह तिस्सथेर जाग पड़ता एवं भिक्खुओं को कहता, "अरे! सोने को आ गए ? जाओ, वापस जाओ, समण धम्म का पालन करो।" भिक्खु वापस ध्यान में रत होने की कोशिश करते। वे मध्यम पहर में सोने को आते, तो उस समय भी तिस्स थेर जागकर फिर उन्हें वही बात कहता। वे वापस जाते, साधना करते। अन्तिम पहर में सोने को आते। अन्तिम पहर में तिस्स थेर जाग्रत हो, उनको फिर वही उपदेश देता।

इस प्रकार तिस्स भिक्खु के साथ आए भिक्खु भली प्रकार से सो नहीं पाते थे एवं अपना चित्त एकाग्र नहीं कर पाते थे। अस्तु, वे उद्विग्न मन थे, अशान्त चित्त थे, चित्त में शान्ति ला नहीं सके और न ध्यान-साधना कर पाते और न ही वे धम्म के सूत्रों को ही याद कर पाते। वे बहुत परेशान हो गए। वर्षावास खत्म हो चुका था। उन्होंने तय किया कि भगवान के पास जाना चाहिये और यह पता करना चाहिये कि क्या हमारा गुरु वास्तव में ही हमको सही मार्गदर्शन दे रहा है या अपनी शेखी बघार रहा है। वे देख रहे थे कि उनका गुरु दूसरों को तो भले मार्ग की सीख दे रहा है,

ध्यान-विपश्यना की बात बता रहा है परन्तु स्वयं ऊंघता रहता है। वे बातें करने लगे, अरे ! यह गुरु तो हमें बर्बाद करना भर चाहता है। खुद तो कुछ करता नहीं है और हमको वैसा करने को कहता है। ऐसे-ऐसे विचार उनके मन में आने लगे। अस्तु, उन्होंने भगवान के पास जाने का निश्चय किया और चल पड़े।

भगवान जेतवन में थे, सावत्थि में थे। वे वहां पहुंचे, भगवान की वन्दना की, स्तवन किया, अभिवादन किया। भगवान ने कुशल-क्षेम पूछी। तथागत सर्वज्ञ थे, महाकारुणिक थे, बोले, "भिक्खुओ ! क्या अप्रमाद के साथ तुम लोगों ने 'समण धम्म' की पालना की ?" भिक्खुओं ने पूरी दास्तान सुना दी। भगवान ने कहा, "भिक्खुओ ! जो दूसरों को शिक्षा देना चाहता है, उपदेश देना चाहता है, उसे पहले अपने को शिक्षित करना चाहिये, अपने को उपदेशित करना चाहिये, उसको खुद उस रास्ते पर पहले चलना चाहिये, जो राह वह दूसरों को बता रहा है। उसका व्यवहार सम्यक होना चाहिये। अगर व्यक्ति खुद को ही अपना गुरु बना ले तो वह बहुत बड़ा कल्याणप्रद होता है—अपने लिए 'दूसरों के लिए भी।" भगवान ने कुक्कुट जातक को सुनाकर कहा, "भिक्खुओ! दूसरे को उपदेश देने वाले को पहले अपना दमन करना चाहिये। ऐसा व्यक्ति उपदेश करते हुए सुदान्त होकर दमन करता है। यदि मनुष्य अपने को, स्वयं को वैसा ही बना ले, जैसाकि दूसरों को उपदेश देता है, तो भी वह जितेन्द्रिय अपना ही दमन करे, क्योंकि वास्तव में स्वयं का दमन ही कठिन है।" ऐसा कहते हुए भगवान बुद्ध ने यह गाथा कही—

159. अत्तानञ्चे तथा कयिरा, यथञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दम्मेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो।। 12.3।।

अर्थ : पहले अपने को वैसा बनावे, जैसा दूसरे को अनुशासन करता है; (पहले) अपने को भली प्रकार दमन करने वाला ही दूसरे का दमन कर सकता है। वस्तुतः अपने को दमन करना (ही) कठिन है।

शब्दार्थ : वत = वास्तव में। **दमेथ** = दमन करे। **किर** = निश्चय ही। **दुद्दमो** = दुर्दमनीय।

वग्ग 12, गाथा 4

व्यक्ति अपना स्वामी आप है

(कुमार कस्सप थेर की मां की कथा, स्थान—जेतवन)

160. **कुमार कस्सप** स्थविर की मां राजगृह नगर के एक सेठ की पुत्री थी। वह बचपन में ही प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती थी, परन्तु उसके जीवन में वह सुअवसर आया ही नहीं। मां-बाप ने उसे प्रव्रजित होने की आज्ञा नहीं दी। बिना मां-बाप की आज्ञा के प्रव्रजित होना, प्रव्रजित करना शास्ता के संघ के नियमों के प्रतिकूल था। समय बीता, वह तरुण अवस्था को प्राप्त हुई, युवती हुई, उसके मां-बाप ने एक अच्छा सा वर देखकर उसकी शादी कर ही।

वह पति की सेवा में रहती, पति का मन जीता तो उसने पति से निवेदन किया कि उसे

प्रव्रजित होने की आज्ञा मिले। दोनों में विचार मन्थन चलता रहा, अन्तोगत्वा पति ने उसे आज्ञा दे दी, वह प्रव्रजित होने चल दी। उसका पति उसे सहर्ष भिक्खुणी विहार में ले गया, वहां पर देवदत्त के भिक्खुणीसंघ में वह प्रव्रजित हो गयी। इस भिक्खुणी को प्रव्रजित होने से पूर्व गर्भ ठहर चुका था, परन्तु उसे उसका पता नहीं था। वह भिक्खुणी धर्म का पालन करने लगी। पूरे मनोवेग से ध्यान-विपश्यना में रत रहने लगी। धीरे-धीरे उसके गर्भवती होने का पता सब को चल गया।

जब अन्य भिक्खुणियों को इसका पता चला तो वे उसे देवदत्त के पास ले गयीं और देवदत्त को उसके गर्भ ठहरने की बात बतायी। देवदत्त ने सोचा, अगर यह संघ में रही तो हमारे पक्ष की निन्दा होगी, अस्तु इसे वापस घर भेज देना चाहिये। उसने उस भिक्खुणी को विहार से बाहर निकालने को कहा। इस पर वह भिक्खुणी बोली, ''मैं भगवान के शासन में प्रव्रजित हुई हूं, मेरा अभिप्राय तुम्हारे गुरु से प्रव्रजित होने का नहीं था, मैं तो यहां गलती से आ गयी, कृपया मुझे शास्ता के पास ले चलिये।''

शास्ता उस समय सावत्थि के जेतवन विहार में थे। वह भिक्खुणी वहां पहुंची, भगवान का अभिवादन किया और एक ओर बैठ गयी। भगवान जानते थे कि यह भिक्खुणी पहले से ही गर्भवती है, इसमें इसका कोई दोष नहीं हैं। अस्तु, वे इस मुद्दे को हल करने के लिए उद्यत हुए। भगवान ने राजा पसेनदि को बुलाने का भिक्खुसंघ को आदेश दिया साथ ही अनाथपिण्डिक और विशाखा को भी लिवा लाने का 'संकेत' किया।

राजा पसेनदि आ चुके थे। अनाथपिण्डिक उपस्थित था। विशाखा भगवान का आदेश जानना चाहती थी और भिक्खुणी अपने न्याय की आशा में खड़ी थी। भगवान ने उपालि को आदेश दिया, ''उपालि ! इस मसले को सुलझाया जाय'' उन्होंने आपस में बात की। उपालि थेर ने महाराजा पसेनदि, विशाखा और अनाथपिण्डिक को बुलाकर उस भिक्खुणी को विशाखा के सुपुर्द किया। विशाखा एक पर्दा लगाकर, उसे वहां से ले गई और भिक्खुणी की जांच-पड़ताल की। उसने थेर उपालि को बताया, यह तो पहले से ही गर्भवती है, गर्भ अभी का नहीं है। गर्भ भिक्खुणी बनने के पहले का ठहरा हुआ हैं। थेर उपालि ने समस्त लोगों के सामने कहा, ''यह औरत निर्दोष है, यह भिक्खुणी बिलकुल निर्दोष है, इसने सदाचार को खण्डित नहीं किया है।'' इस प्रकार सुस्पष्ट हो जाने पर वह भगवान के भिक्खुणीसंघ में शरीक हो गई।

गर्भ का समय पूरा होने पर उस भिक्खुणी को प्रसव हुआ। उसने एक शिशु को जन्म दिया। राजा पसेनदि ने उस बालक का पालन-पोषण किया और उस बालक का नाम **कुमार कस्सप** रख दिया। बालक बड़ा हुआ। वह जानने लगा, समझने लगा, तब उसे ज्ञात हुआ कि उसकी मां एक भिक्खुणी है, तो वह भी प्रव्रजित हो गया, उस समय कुमार कस्सप की उम्र सात वर्ष की थी। जब वह युवक हुआ तो उसने भगवान से भिक्खु की उपसम्पदा ग्रहण की और ध्यान विपश्यना हेतु अरण्य में चला गया। वहां उसने पूरी लगन से अर्थात पूरे मनोवेग से साधना की और अर्हत्त्व को प्राप्त हुआ।

कुमार कस्सप को अरण्य में गए हुए बारह वर्ष हो चुके थे, उसकी मां भिक्खुणी को उन्हें देखे बारह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। एक दिन भिक्खाटन के समय उसने कुमार कस्सप को

भिक्खाटन करते हुए देखा। उसका पुत्र-प्रेम उमड़ पड़ा, खुशी से उसकी छाती भर आयी, वह दौड़कर उसे पकड़ लेना चाहती थी, उसे अगाध वात्सल्य का दुलार देना चाहती थी। वह दौड़ी, उसने आवाज़ लगायी, परन्तु कुमार कस्सप अपनी गति से चल रहे थे, वे उसे सुना-अनसुना करते हुए चारिका कर रहे थे। मां भिक्खुणी ने जोर से पुकारा, चिल्लाई, कुमार कस्सप यह सब देखकर सोचने लगे, अगर मैं इससे स्नेह से बात करूंगा तो इसका भला नहीं होगा, यह अभी भी पुत्र-मोह में पड़ी हुई है। यह उसके निर्वाण मार्ग हेतु ठीक नहीं है। यह उसके भव को खराब कर देगा। अतः उसके भव का, निर्वाण का ख्याल करते हुए, जानबूझकर कुमार कस्सप कर्कश स्वर में बोले, ''क्या करती घूम रही हो ? भिक्खुणी बन गयी हो और अभी तक पुत्र-स्नेह के बन्धन को भी नहीं तोड़ सकीं।''

भिक्खुणी को लगा— उसका पुत्र बड़ा कठोर आदमी है, उसने स्नेह से पुनः बात दोहरायी अपना अभिप्राय समझाया। कुमार कस्सप ने अपनी पहले कही गयी बात को फिर दोहराया। भिक्खुणी बोल पड़ी, ''अरे हां ! बारह सालों तक मैंने अपने इसी पुत्र के लिए आंसू बहाये हैं और आज वह मुझे कटु वचन कह रहा है।'' वह सोचने लगी, 'मेरे ऐसे स्नेह का क्या औचित्य ?' उसकी आसक्ति क्षीण होने लगी, उसने तय कर लिया कि वह अब अपने पुत्र से किसी प्रकार का मोह नहीं रखेगी और उसने मोह पाश तोड़ फेंका। उसका पुत्र-स्नेह जाता रहा, उसने उसी दिन अर्हत्त्व को प्राप्त किया।

एक दिन धर्म प्रविचय हो रहा था। भिक्खुओं ने भगवान से पूछा, ''भगवान कुमार कस्सप की मां देवदत्त के पास गयी, उसका प्रवचन सुना, उसको अपना शास्ता बनाया। परन्तु उसने उसके प्रति अच्छा नहीं किया, लेकिन आपने उसको शरण दी, वह अर्हत हुई।'' तथागत ने निगोध जातक को कहते हुए उपदेश दिया, ''भिक्खुओ ! दूसरे को अपना स्वामी बनाने पर स्वर्ग या मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती है। व्यक्ति अपना स्वामी आप है, दूसरा कोई इसमें क्या करेगा ? कुमार कस्सप की मां ने स्वयं उद्योग करके अर्हत्त्व पा लिया है। व्यक्ति अपने ही को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामित्व (निर्वाण) को प्राप्त करता है।'' ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

160. अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तनाहि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं।। 12.4।।

अर्थ : व्यक्ति अपना स्वामी आप है, भला दूसरा कोई (ईश्वरादि) उसका स्वामी कैसे हो सकता है ? अपने ही को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामित्व (=निर्वाण) को पाता है।

शब्दार्थ : **अत्तनो** = अपना स्वयं। **अत्ताहि** = अपने आप। **नाथो** = स्वामी (=आदमी अपना मालिक अपने आप है, किसी अदृश्य शक्ति—ईश्वरादि—को उसका मालिक बनाना सरासर बेईमानी है)। **परो को हि** = दूसरा कोई। **नाथो सिया** = स्वामी कैसे हो सकता है। **सुदन्तेन** = सुदान्त होने पर। **अत्तनाहि** = अपने ही को। **दुल्लभं** = दुर्लभ। **नाथ** = स्वामी (=निर्वाण) को (='नाथ' शब्द अपने स्वामित्व के लिए प्रयुक्त है। कुछ भटके हुए टीकाकारो ने बुद्ध के दर्शन से हटकर इस शब्द का अर्थ 'ईश्वर' किया है, जबकि बुद्ध ईश्वरवादी नहीं थे)। **लभति** = पाता है।

वग्ग 12, गाथा 5

अपना पाप अपने को ही पीड़ित करता है

(महाकाल उपासक की कथा, स्थान—जेतवन)

161. भगवान जेतवन में थे। सावत्थि में महाकाल नाम का एक उपासक था। वह उपोसथ कर धम्म-श्रवण किया करता था। उसने एक बार महीने में आठ दिन उपोसथशील की पालना की और रात्रि को विहार में धम्म श्रवण हेतु गया और सारी रात धम्म-प्रविचय से अपने आस्रवों को क्षीण करता रहा। उसी रात्रि चोरों ने एक घर में सेंध मारी और घर का सारा सामान चुरा लिया। गृहस्थ जाग गया व हो-हल्ला होने लगा। चोर सामान लेकर भागने लगे। गांव वाले चोरों के पीछे-पीछे लाठी-डण्डे लेकर भागने लगे। चोर इधर-उधर हो गए। एक चोर ने चुराये हुए सामान को पोखर के किनारे फेंक दिया और ओझल हो गया।

महाकाल विहार से उसी समय उस पोखर पर आया और हाथ-मुंह धोने लगा। लोग भागते-भागते वहां पहुंच गए, उन्होंने वहां सामान पड़ा देखा और महाकाल को हाथ-मुंह धोते देखा, उन्होंने समझा यही चोर है और उसको लातों से, घूंसों से, लाठियों से मारने लगे। महाकाल अप्रत्याशित वार को सह नहीं सका। उसी समय उसकी मृत्यु हो गयी। गांव वाले उसे पीट कर, मार कर सामान लेकर वापस जा चुके थे। विहार से कुछ सामनेर सुबह-सुबह पोखर पर पानी लेने आये।

सामनेरों ने वहां उसकी लाश को देखा, वे उसके पास गए, उसको पहचान गए, 'अरे ! यह तो महाकाल उपासक है, अभी तो हमारे साथ विहार में था। इतना जल्दी यह सब कैसे हो गया।' वे ऐसा सोचते हुए वापस विहार में आए और भगवान को पूरी जानकारी दी और बोले, "भगवान! महाकाल श्रद्धालु उपासक था। सारी रात वह विहार में धर्म-प्रविचय में तल्लीन था, जिस तरह से उसकी मौत हुई है, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती.....।" भगवान धीर थे, गम्भीर थे, वे बोले, "महाकाल ने इस भव में जो कर्म किए हैं, उसको ध्यान में लाकर तुम सोचते हो कि ऐसी मौत का वह हकदार नहीं था, परन्तु सच्चाई यह है कि यह अपने पिछले भव में एक रूपवती स्त्री पर मोहित हो गया था और उसके पति पर इसने झूठा चोरी का इल्जाम लगा कर मरवा दिया था, उसी पिछले भव के अकुशल कर्मों के कारण उसकी दुर्दान्त मृत्यु हुई है।" वे आगे बोले "भिक्खुओ ! महाकाल ने अपने पूर्व भव में किए पाप का फल पाया है। ऐसे प्राणियों का इस तरह किया हुआ पाप कर्म ही इन्हें चारों अपायों में पीड़ित करता है। अपने स्वयं के द्वारा ही किया गया, अपने ही से उत्पन्न और अपने ही से पोषित पाप दुर्बुद्धि को मथ डालता है। दुर्बुद्धि मनुष्य को यह पाप उसी प्रकार मथित करता है, जिस प्रकार पत्थर से ही उत्पन्न हीरा पत्थर की मणि को काट देता है। वह दुर्बुद्धि मनुष्य को पाषाणमय मणि की चोट की भांति पीड़ित करता है।" ऐसा कहते हुए भगवान बुद्ध ने यह गाथा कही—

161. अत्तना हि कतं पापं अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमत्थति दुम्मेधं वजिरं'हस्ममयं मणिं।। 12.5।।

अर्थ : अपने से जात, अपने से उत्पन्न, अपने से किया पाप (करने वाले) दुर्बुद्धि आदमी को भांति पीड़ित करता है, जैसे पाषाणमय-मणि को वज्र।

शब्दार्थ : अत्तना हि = अपने द्वारा ही। **अत्तसम्भवं** = अपने द्वारा पोषित। **अभिमत्थति** = मथ डालता है। **वजिरं** = हीरा। **व'स्ममयं** = इव + अस्ममयं = पत्थर से उत्पन्न।

वग्ग 12, गाथा 6

दुराचारी शत्रु के इच्छानुरूप बनता है

(देवदत्त की कथा, स्थान—वेणुवन)

162. भगवान वेणुवन में विहार कर रहे थे। धर्म-प्रविचय कर रहे थे। भिक्खुओं ने देवदत्त के दुराचार की चर्चा भगवान से की। भगवान ने उनको उपदेश देते हुए बताया कि हमारे चित्त में जितने भी बुरे विचार हैं, वे हमारे शत्रु ही हैं। एक के बाद दूसरा बुरा विचार आता है, उसको करते हैं, बार-बार करते हैं और हम उन बुरे विचारों से घिर जाते हैं। अगर कोई हमसे घृणा करता है, तो वह उसके चित्त का विकार है, परन्तु हम भी अपने में घृणा का बीज बो देते हैं, तो फिर उससे दूसरा बीज फूटता है, फलता है और बढ़ता है। अन्ततोगत्वा इससे शत्रुता बढ़ती ही जाती है और हम अपने ही सोचे बुरे विचारों के जाल में फंस जाते हैं। तथागत बोले, "भिक्खुओ। अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति को उसके दुराचार से उत्पन्न हुई तृष्णा वैसे ही दुर्गति में डालती है, जैसे कि मालुवा की लता साखू पेड़ को घेर कर तोड़ डालती है। जिसको अत्यन्त दुराचार इस प्रकार घेरे हुए हैं, जिस प्रकार मालुवा नाम की लता शाल वृक्ष को घेरे रहती है। वह अपने को वैसा ही कर लेता है, जैसे कि उसका शत्रु उसे चाहता है।" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

162. यस्सच्चन्तदुस्सील्यं, मालुवा सालमिवोततं।
करोति सो तथत्ता'नं, यथानं इच्छति दिसो।। 12.6।।

अर्थ : मालुवा लता से वेष्ठित साखू के पेड़ की भांति जिसका दुराचार फैला हुआ है; वह अपने को वैसा ही कर लेता है, जैसा कि उसके शत्रु चाहते हैं।

शब्दार्थ : अच्चन्तदुस्सील्यं = अत्यन्त दुराचार। **मालुवा सालमिवोततं** = मालुवा लता से वेष्टित शाल वृक्ष की भांति फैला हुआ। मालुवा एक प्रकार की लता होती हैं जिसके कटोरे जैसे पत्तों में वर्षा का पानी भर जाने पर बड़े-बड़े वृक्ष भी गिर जाते हैं। **तथत्तानं** = अपने को वैसा ही। **नं** = एनम्। **दिसो** = शत्रु।

वग्ग 12, गाथा 7

हितकर को करना दुष्कर है

(संघ में फूट डालने की कथा, स्थान—राजगृह का वेणुवन)

163. भगवान वेणुवन में विहार करते थे। कलन्दकनिवाप में थे। एक बड़ी परिषद में बैठे उपदेश दे रहे थे। राजा भी वहां बैठा था। देवदत्त उठा, उसके एक कन्धे पर उत्तरासंग था।

वह भगवान की ओर मुखातिब होकर अंजलिबद्ध खड़ा होकर बोला, "भन्ते ! आप वृद्ध हो गए हैं, भिक्खुसंघ को मुझे दे दें।" भगवान बोले, "देवदत्त ! तुझे भिक्खुसंघ कैसे रुचिकर होगा ?" वह बोला, "नहीं शास्ता मुझे दे दें।" भगवान ने प्रश्न किया, "देवदत्त ! यह कैसे होगा ?" उसका उत्तर था, "भगवान ! मैं उन्हें सम्हालूंगा।" भगवान बोले, "देवदत्त ! मैं सारिपुत्त और मोग्गल्लान को भिक्खुसंघ नहीं दे सकता, तो तुम्हें कैसे दे दूं। तू तो मृत थूक के तुल्य है।" देवदत्त को ईर्ष्या हुई। वह बिगड़ा। सारिपुत्त और मोग्गल्लान के प्रति भी ईर्ष्या हुई। ईर्ष्या और द्वेष में जलता हुआ देवदत्त सभा से चला गया। भगवान ने भिक्खुसंघ को आमन्त्रित कर बताया कि भिक्खुसंघ देवदत्त के कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं है।

ईर्ष्या और डाह की जलन के प्रतिफल भगवान को तीन बार मारने के लिए उसने षड़यन्त्र किया, परन्तु वह असफल रहा। उसने संघ भेद के लिए भी कई प्रयत्न किए, परन्तु वह सफल नहीं हो सका। एक बार वह भगवान के पास गया और भगवान से भिक्खुओं के लिए पांच बातें नियम बनाने के लिए प्रस्तावित कीं, वे थीं— (1) भिक्खु आजीवन अरण्य में ही रहें, (2) भिक्खु को आजीवन पिण्डपात पर निर्भर रहना चाहिये, (3) भिक्खु आजीवन पांसूकूलिक धारण करें (4) भिक्खु आजीवन वृक्ष के नीचे वास करें और (5) भिक्खु को आजीवन मांस-मछली का सेवन नहीं करना चाहिये। भगवान ने कहा, "देवदत्त ! अपनी इच्छानुसार जो भिक्खु चाहे आजीवन अरण्यक, पिण्डपातिक, पांसुकूलिक, वृक्षमूलिक रह सकता है और चाहे तो नहीं भी रह सकता है। देवदत्त बोला, "और मत्स्य-मांस ?" भगवान ने कहा, "मैंने केवल अदृष्ट, अश्रुत तथा अपरिशंकित इन तीन कोटि के परिशुद्ध मांस की अनुज्ञा दी है।" वस्तुतः भगवान को इन नियमों पर कोई आपत्ति नहीं थी, जो अपनाना चाहे, अपनावे। परन्तु वे कई कारणों से इसे भिक्खुओं पर सामान्य सदाचार का नियम अर्थात् विनय थोपना नहीं चाहते थे।

देवदत्त ने भगवान के विरुद्ध प्रचार करना शुरू कर दिया और कहने लगा कि उसके द्वारा प्रस्तावित नियम वर्तमान नियमों से बेहतर हैं। नये-नये भिक्खु उससे सहमत होते नज़र आये। संघ भेद फैलने लगा। भगवान को इसकी जानकारी हुई, उन्होंने देवदत्त को बुलाया और फटकार लगायी, परन्तु देवदत्त के कानों पर जूं तक नहीं रैंगी। वह अपने ऐसे कृत्यों में, दुराचरण में संलिप्त था। एक समय आनन्द थेर पूर्वाह्न राजगृह में भिक्खा निमित्त निकले। देवदत्त का उत्तर था, "मेरा संघ आज से अलग रहेगा।" आनन्द ने कहा, "देवदत्त ! विचार कर लिया है।" वह गर्व से हां कहता हुआ चला गया। आनन्द भगवान के पास वापस आए और उनको सारी बातें सुनाईं।

भगवान कहते हैं, "देवदत्त बहुत ही गम्भीर अपराध कर रहा है, वह अवीचि निरय में गिरेगा।" सज्जनों के साथ भलाई सुखकर है, दुर्जनों के साथ भलाई दुष्कर है। पापियों के साथ पाप सुखकर है और आर्यों के साथ पाप दुष्कर है।" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

163. सुकरानि असाधूनि, अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितं च साधुं च, तं वे परमदुक्करं।। 12.7।।

अर्थ : बुरी बातों का करना बड़ा आसान है जिनसे अपना ही अहित होता है, (किन्तु) उसे करना बड़ा दुष्कर है जो अच्छा और हितकर है।

शब्दार्थ : **असाधूनि** = बुरे कर्मों का। **अत्तनो अहितानि च** = अपना ही अहित हो। **सुकरानि** = सुकर है (=करना आसान है)। **यं** = जो। **वे हितं च** = अपने लिए हितकारक। **साधुं च** = अच्छा। **तं** = उस कर्म को। **वे** = निश्चय ही। **परमदुक्करं** = बड़ा दुष्कर है।

वग्ग 12, गाथा 8

शासन की निन्दा घातक है

(काल थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

164. सावत्थि की एक उपासिका कालथेर का अपने पुत्र की भांति सदा आदर और सत्कार करती थी। काल थेर उसे उपदेश देते थे, वह उसके घर भिक्खाटन हेतु आते थे। एक बार उस उपासिका ने पड़ौसियों से भगवान बुद्ध की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा सुनी, उनकी वाणी के जादू का बखान सुना। अस्तु वह साक्षात् भगवान के वचनामृत का आस्वादन करना चाहती थी और जेतवन विहार जाकर अपने कानों से उनकी अमृतवाणी सुनना चाहती थी। अतः उसने काल थेर से निवेदन किया कि एक दिन उसे भी भगवान के विहार में ले जाय, वह भगवान के मुखारविन्द से अमृतवाक्य सुनना चाहती है।

काल थेर ने यह सोचकर कि यदि यह भगवान के पास उपदेश सुनने चली गई, तो उसको यह पूर्ववत सम्मान नहीं देगी, सत्कार नहीं करेगी। अतः इसने उसे मना कर दिया। उपासिका की प्रबल इच्छा थी कि वह भगवान को सुने। अस्तु, उसने काल थेर को तीन बार निवेदन किया और तीनों ही बार उसे मना कर दिया गया। इस ऊहा-पोह की स्थिति में एक दिन उपोसथ कर, वह घर से निकल ही पड़ी और भगवान जहां विराजमान थे, वहां जाकर दत्तचित्त हो धम्म-श्रवण करने लगी। जाते समय वह अपनी पुत्री को काल थेर की आवभगत के बारे में समझा कर गयी थी।

अपने नियमित भिक्खाटन के दौरान जब काल थेर उस उपासिका के घर पहुंचें, तो उसे उपासिका की पुत्री द्वारा मालूम हुआ कि वह जेतवन विहार में भगवान के प्रवचन सुनने गयी है। काल थेर को लगा कि इस उपासिका की श्रद्धा उस पर से खत्म हो रही है। अस्तु, वह जल्दी से उपासिका के पीछे-पीछे जेतवन विहार पहुंच गया। वहां पर उस उपासिका को उसने उपदेश सुनते हुए देखा। उसने भगवान को सादर निवेदन किया, "पूज्य, भन्ते ! यह मूर्ख है, यह सूक्ष्म धम्मोपदेश नहीं समझ सकती है। इसे गम्भीर धम्मोपदेश न देकर दान और शील सम्बंधी उपदेश दीजिये।" सर्वज्ञ भगवान अच्छी तरह से जानते थे कि काल थेर का अभिप्राय क्या है, उसके कथन के पीछे छुपे मन्तव्य को वे समझ चुके थे। वे बोले, "भिक्खु ! तुम मूर्ख हो, तुम्हारी गलत दृष्टि से तुम बुद्ध शासन को नष्ट कर रहे हो। तुम खुद अपने विनाश बन बैठे हो, तुम सिर्फ अपने को विनिष्टै करने की कोशिश कर रहे हो।" भगवान अपनी बात जारी रखते हुए बोले, "जो दुर्बुद्धि मनुष्य पापमयी दृष्टि या आश्रय लेकर धम्म-प्राण श्रेष्ठ

अर्हतों के शासन की निन्दा करता है, वह अपनी ही बरबादी करता है, जैसे बांस का फूल बांस को ही नष्ट कर देता है। "ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

164. यो सासनं अरहतं, अरियानं धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो, दिट्ठिं निस्साय पापिकं।
फलानि कट्ठकस्सेव, अत्तघञ्ञाय फल्लति।। 12.8।।

अर्थ : *जो धर्मार्थी श्रेष्ठ अर्हतों के शासन की अपनी पापमयी मिथ्या धारणा के कारण निन्दा करता है, वह अपनी ही बर्बादी करता है, जैसे बांस का फूल बांस को ही नष्ट कर देता है।*

शब्दार्थ : पटिक्कोसति = निन्दा करता है। **दिट्ठिं** = दृष्टि। **निस्साय** = आश्रय लेकर। **फलानि कट्ठकस्सेव** = बांस के फूलों की भांति।

वग्ग 12, गाथा 9

शुद्धि-अशुद्धि अपनी ही होती है

(चूलकाल उपासक की कथा, स्थान—जेतवन)

165. एक समय चूलकाल उपोसथ की पालना कर सारी रात जेतवन विहार में धम्म-प्रविचय सुनता रहा। रात भर धम्म-श्रवण के कारण जागा हुआ वह सुबह-सुबह विहार के पास के पोखर में हाथ-मुंह धोने गया। कुछ चोरों ने उसके पास चीज फेंकी और चोर भाग गए। महाकाल की तरह उसकी भी लोगों ने पिटाई शुरू कर दी। उसी समय कुछ पनिहारिनियां और दासियां वहां पानी भरने के लिए आयी हुई थीं, उन्होंने चूलकाल को देखकर पहचान लिया और बताया कि यह चोर नहीं है। अस्तु, लोगों ने उसे छोड़ दिया और वह मरने से बच गया।

भिक्खुओं ने यह सब बात भगवान से की, तब भगवान ने कहा, "चूलकाल ! तुम इसलिये नहीं बच गए हो कि पनिहारिनियों और दासियों ने बताया कि तुम चोर नहीं हो, बल्कि इसलिये बच गए, क्योंकि तुमने चोरी नहीं की थी और तुम निर्दोष थे। जो बुरा करते हैं, पाप करते हैं, वे निरय गति को प्राप्त होते हैं और जो अच्छा करते हैं, भला करते हैं, वे सुगति को प्राप्त करते हैं और निर्वाण का अनुभव करते हैं। अगर कोई पाप करता है, तो वह उससे मलिन होता है। पाप नहीं करता है, तो अपने को शुद्ध करता है, अपने द्वारा किया गया पाप अपने को ही क्लेश देता है और अपने द्वारा नहीं किया गया पाप अपने को ही शुद्ध करता है। शुद्धि और अशुद्धि प्रत्येक मनुष्य पर निर्भर है। कोई भी किसी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता है" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

165. अत्तना'व कतं पापं, अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना'व विसुज्झति।
सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये।। 12.9।।

अर्थ : *अपना किया हुआ पाप अपने को मलिन करता है। अपना न किया पाप अपने को शुद्ध करता है। शुद्धि और अशुद्धि अपने ही से होती है। दूसरा आदमी अन्य को शुद्ध नहीं कर सकता।*

शब्दार्थ : संकिलिस्सति = क्लेश देता है। विसुज्झति = शुद्ध करता है। पच्चत्तं = प्रत्येक मनुष्य।

वग्ग 12, गाथा 10

पराये के लिए अपनी हानि न करें

(अत्तदत्थ थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

166. भगवान ने अपने महापरिनिर्वाण की बात भिक्खुओं को कही, तो सभी भिक्खु चिन्तित हुए। भगवान का चार माह पश्चात् महापरिनिर्वाण होगा। सभी अपने-अपने हिसाब से भगवान का सामीप्य चाह रहे थे। अत्तदत्थ नाम का एक भिक्खु था, स्थविर था, थेर था, उसको भी यह मालूम हुआ, वह भी उदास हुआ और भिक्खुओं का साथ छोड़कर अपनी ध्यान कुटी में जाकर बैठ गया— ध्यान विपश्यना करने को।

दूसरे भिक्खुओं को मालूम हुआ। उन्होंने भगवान से निवेदन किया कि अत्तदत्थ भिक्खु एकान्त में समय बिता रहा है। उसे बुलाया गया, उससे पूछा गया। अत्तदत्थ बोला, "पूज्य, भगवान ! आप तीन महीने पश्चात् महापरिनिर्वाण पाने वाले हैं। इसलिये मैंने सोचा कि आपकी उपस्थिति में आपके जीते-जी मैं अर्हत्त्व को पाकर आपका सत्कार कर सकता हूं, इसलिये भगवान मैं ध्यान-विपश्यना रत हो गया।" भगवान ने साधुवाद दिया और बोले, "भिक्खुओ ! जिसे हम पर स्नेह है, उसे अत्तदत्थ के समान होना चाहिये। गन्ध आदि से पूजा करते हुए हमारी कोई पूजा नहीं करता है, किन्तु धर्म के अनुसार आचरण करके ही हमारी पूजा करता है। इसलिये दूसरों को भी अत्तदत्थ के समान ही होना चाहिये। दूसरों के बड़े हित के लिए भी अपने हित का त्याग नहीं करना चाहिये, पराये के बहुत हित के लिए भी अपने हित की हानि नहीं करें। अपने हित को भली-भांति समझकर सुहित के साधन में संलग्न हो जाये।" ऐसा कहते हुए भगवान ने एक गाथा कही—

166. अत्तदत्थं परत्थेन, बहुनापि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय, सदत्थपसुतो सिया।। 12.10।।

शब्दार्थ : अत्तदत्थं = अपने लिए। हापये = त्यागना चाहिये। सदत्थपसुतो = सदर्थ (कल्याण) के साधन में रत।

3. अत्तवग्गो (आत्म वर्ग) सार-संक्षेप

क्रम	गाथा क्रम	संदर्भित स्थान	संदर्भित पात्र	संदर्भित उपदेश
157	12.1	भेसकलावन	बोधिराज कुमार	अपने को प्रिय समझने वाला स्वयं को सुरक्षित रखे।
158	12.2	जेतवन	उपनन्द सक्कपुत्त थेर	पहले अपने को सन्मार्ग में लगावे, फिर दूसरों को उपदेश दे, इससे क्लेश नहीं।
159	12.3	"	पधानिक तिस्स थेर	अपने को भली प्रकार सुसंयमित कर दूसरे का दमन करे। वस्तुतः अपना दमन ही कठिन है।

लोक वर्णो

THE WORLD

हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य, न सिया लोकवड्ढनो।।

अर्थ : हीन धर्म का सेवन न करे, प्रमाद से न रहे, मिथ्या धारणा में न पड़े, आवागमन का चक्र न बढ़ावे।

इस वग्ग की गाथा सं. 176 में दान की महिमा का उल्लेख किया गया है। बौद्ध धर्म में दान को एक पारमिता माना जाता है। कंजूस अपनी अदानी प्रवृत्ति किंवा कंजूसपने से उर्ध्वगामी नहीं बन पाता है, दानी जन ही उर्ध्वगामी बनते हैं, उसी दान चरित् पण्डित दान का अनुमोदन करके परम सुख को प्राप्त करते हैं। ज्ञान की प्राप्ति का फल श्रेष्ठ है। सारी पृथ्वी का चक्कवर्ती राजा होने या स्वर्गारोहण से भी बढ़कर है—स्रोतापतिफल को पाना, स्रोतापन्न होना। बौद्ध धर्म में बताया गया है कि बुद्ध, धर्म और संघ तथा शील, सदाचार, करुणा आदि में विश्वास रखने वाले स्रोतापन्न श्रावक के सक्कायदिट्ठि, विचिकित्सा और सीलब्बतपरामास, इन संयोजनों का क्षय हो जाता है। दूसरी ओर सारी पृथ्वी का राज भोगने वाले चक्कवर्ती राजा या स्वर्गारोही के भी यह संयोजन टूटे हुए नहीं होते हैं, तो वह पुनः दुख का भागीदार ही बनेगा। अस्तु, सोतापन्न को श्रेष्ठ बतलाया गया है। इस संकलन में 12 गाथाएं संगृहीत हैं, जिसमें से आठ जेतवन विहार में, दो निग्रोधाराम (कपिलवत्थु), एक वेणुवन (राजगृह) व एक अग्गालव चेतिय से सम्बंधित है राजकुमार भिक्खु, थेर तथा दहर भिक्खु से लेकर विपस्सक साधक भिक्खुओं तक के जीवन-आलोक से निष्पन्न ये कथाएं, मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों और सद्वृत्तियों का सहज रूपांकन करती हैं। निर्दयी, निर्मम राक्षस अंगुलिमाल से बने थेर अंगुलिमाल का जीवन परिवर्तन हमें अपने चित्त में अच्छी प्रवृत्तियों को जाग्रत करने का पूरा सम्बल प्रदान करता है। जीवन में कभी भी कोताही से विमुख हुए लोगों को भी रास्ता दिखाने वाली ये गाथाएं बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर के पवित्र ग्रन्थ 'भगवान् बुद्ध और उनका धम्म' में भी अपना स्थान बना पायी हैं। उन्होंने उस वर्ग की गाथा सं. 167, 168 आदि का एक से अधिक बार प्रयोग किया है एवं गाथा सं. 169, 172, 173 व 176 को भी अक्षरशः उद्धृत किया है।

13. लोक वग्गो

2. गाथाएं

वग्ग 13, गाथा 1

हीन धर्म का सेवन न करें

(किसी दहर भिक्खु की कथा, स्थान—जेतवन)

167. एक समय थेर एक भिक्खु एक तरुण भिक्खु के साथ प्रातःकाल महोपासिका विशाखा के घर गए। वहां यवागु ग्रहण किया और तरुण भिक्खु को वहीं रुकने का कहकर थेर भिक्खु आगे चले गए। उस समय विशाखा की पौत्री भिक्खु की सेवा में लगी थी। वह तरुण भिक्खु के लिए पानी छान रही थी। पानी छानते हुए उस पानी में उसे अपना प्रतिबिम्ब दिखाई दिया, वह उसे देख कर मुस्करायी, तरुण भिक्खु भी मुस्कराया।

विशाखा की पोती ने जब यह देखा कि तरुण भिक्खु उसे देख रहा है एवं मुस्करा रहा है, तो वह गुस्से में तमतमाती हुई बोल पड़ी, "अरे, तुम सिरमुण्डे ! मुझ पर क्यों हंस रहे हो ?" भिक्खु को उसकी बात अच्छी नहीं लगी, उसने भी तपाक से बोल दिया, "तू सिरमुण्डी, तेरे मां-बाप सिरमुण्डे, तेरा सारा खानदान सिरमुण्डा.....।" और वह भी गुस्से में तमतमाया। दोनों आपस में क्रोधित होकर झगड़ने लगे।

लड़की रोती हुई अपनी दादी विशाखा के पास गयी और विशाखा को सारी बात बतायी। विशाखा भिक्खु के पास आयी और बोली, "भन्ते ! मेरी पौत्री पर गुस्सा मत होइये। बच्ची की बात का बुरा मत मानें, भिक्खु अपने बालों को मुंडाता है, अपनी उंगुलियों और अंगूठों के नाखून

कटे रखता है और फटे-पुराने हुए कपड़ों का चीवर धारण करता है एवं अन्तर्वासक के बीच कटे कपाल को लेकर भिक्खाटन करता है, ऐसे भिक्खु के लिए ऐसा करना उपयुक्त नहीं है। क्या बच्ची ने जो कहा, वह ठीक नहीं है ?"

भिक्खु बोला, "हां, उपासिके ! तुम मेरे कटे बाल आदि होने को जानती हो, पर क्या इसके लिए मुझे 'मुण्डे सिर वाला' कहकर क्रोधित करना चाहिये ?" विशाखा उसको समझाने लगी व बच्ची को भी समझाने लगी, परन्तु वह दोनों को ही शान्त करने में नाकामयाब रही। इसी मध्य थेर भिक्खु वहां आ गए, उन्होंने भी भिक्खु को समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु बात शान्त नहीं हुई।

उसी समय भगवान बुद्ध वहां आए और आपसी विवाद के बारे में जाना। भगवान जानते थे कि भिक्खु को शिक्षा देने का यह उपयुक्त अवसर है, वाजिब समय है, वह सोतापन्न फल प्राप्त कर सकता है। अतः उसको दायित्वबोध कराने के लिए विशाखा से कहा, "विशाखे ! क्या सिर के बाल कटवा लिए जाने से मेरे भिक्खुओं को तेरी पोती द्वारा सिरमुण्डे कहना वाजिब है ? आखिर इन्होंने बुद्ध, धम्म और संघ की शरण में आने के लिए सिर के बाल कटवाये हैं, मुण्डित हुए हैं।" भिक्खु भगवान को अपने पक्ष में जान, भगवान के सामने घुटनों के बल स्तवन करने लगा और बोला, "पूज्य, भन्ते ! आप ही इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं, न तो मेरा गुरु और न ही यह महोपासिका मुझे समझती है।" भगवान ने भिक्खु को अनुकूल जान कर कहा, "काम-वासना के प्रति हंसना हीन कर्म है, तुच्छ कर्म है।" यह सही और सम्यक नहीं है। काम वासनाओं से युक्त विचार सही और सम्यक नहीं होते हैं। वे बोले, "तुच्छ धर्म का, हीन धर्म का सेवन नहीं करें और प्रमाद से नहीं रहें, मिथ्या धारणा का सेवन नहीं करें, झूठी दृष्टि नहीं रखें, इस प्रकार संसार को बढ़ाने वाले, संसार में आवागमन को बढ़ाने वाला नहीं बनें, लोक में आने की वृद्धि नहीं करें।" भगवान ने ऐसा कहकर यह गाथा कही—

167. हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य, न सिया लोकवड्ढनो।। 13.1।।

***अर्थ :** हीन धर्म का सेवन न करें, प्रमाद से न रहें, मिथ्या धारणा में न पड़ें, आवागमन का चक्र न बढ़ावें।*

शब्दार्थ : हीनं धम्मं = नीच धर्म। बुद्धघोस ने 'पंचकामगुण' किया है। पंचकामगुण हैं—चक्खुविंञेय्या रूपा, सोतविंञेय्या सद्दा, घानविंञय्या गन्धा, जिव्हाविंञय्या रसा, कायविंञय्या फोट्ठब्बा (दीघनिकाय— तृतीय भाग)। **संवसे** = रहे। **लोकवड्ढनो** = संसार अर्थात् आवागमन को बढ़ाने वाला।

वग्ग 13, गाथा 2-3

धर्मचारी सुखपूर्वक रहता है

(शुद्धोदन की कथा, स्थान—निग्गोधाराम कपिलवत्थु)

168-169. भगवान ने जब साधना के लिए गृहत्याग किया था, तब यह प्रण लिया था कि जब तक उन्हें सद्धर्म की प्राप्ति नहीं होगी, वे पुनः कपिलवत्थु नहीं आयेंगे। उनको मनाकर वापस लाने

के सब प्रयत्न असफल हो चुके थे, वे बोधिपथ पर आरूढ़ हो गए और उन्हें गया में बोधिलाभ हुआ। बुद्ध बनने के बाद वे पहली बार कपिलवत्थु गए।

कपिलवत्थुवासियों ने तथागत के विहार निमित्त सुव्यवस्थित योज़ना बनायी। तथागत के विहार का स्थान न्यग्रोध आसन चुना गया। सुरुचिपूर्ण ढंग से उनकी सजावट की गयी। पूरा जन-सैलाब तथागत की आवभगत हेतु उतावला था। लोगों ने अपने बालक-बालिकाओं को अलंकृत किया, नये कपड़े पहनाये, सुआच्छादित और सुअलंकृत बच्चों को भगवान की आवभगत हेतु भेजा। इसके बाद राजकुमार और राजकुमारियों का दल स्वागतार्थ गया। सबके हाथ में फूल थे, मालाएं थीं। तथागत ने कपिलवत्थु में प्रवेश किया। लोगों ने उनकी राह में फूल बिछाये, फूल बरसाये, पुष्प वृष्टि होने लगी, सुगन्धित द्रव्य प्रसारित होने लगा। चारों ओर भगवान का जयघोष होने लगा। कपिलवत्थु के लोग अपने प्रिय राजकुमार को भिक्खु वेष में देखकर आल्हादित (आह्यदित) थे, उत्सुक थे। भगवान संयत भाव से निग्गोधाराम की ओर बढ़े, विहार पहुंचे, लोगों ने वहां उनकी पूजा सुगन्धि और पुष्पों आदि से की।

भगवान नियमित भिक्खाटन को निकले। लोगों ने देखा, बोले, "अरे ! देखो ! राजकुमार आ रहे हैं,..... भिक्खा मांग रहे हैं।" चारों ओर बात फैल गयी, जिस राजकुमार को उन्होंने सोने की पालकी में सैर करते देखा था, रथ में विचरण करते देखा था, आज उसी राजकुमार को वे पैदल विचरण करते देख रहे थे। सोने-चांदी के बर्तनों में भोजन करने वाला राजकुमार आज हाथ में मिट्टी का भिक्खापात्र थामे हुए था। जो लोगों को देता था, आज वही लोगों से भिक्खा मांग रहा है। बड़ा अद्‌भुत संयोग था— यह पूरा नगर दौड़ पड़ा— राजकुमार का भिक्खु रूप देखने के लिए, उनकी एक झलक पाने के लिये। नगर की हर गली, झरोखा, खिड़की, अटारी नर-नारियों से भर गए। जो जैसा था, जैसी थी, उसी अवस्था में सुनते ही भगवान का यह रूप देखने को दौड़ पड़े। कोई बाल गुंथ रही थी, कोई चोटी गुंथ रही थी, उसकी चोटी आधी गुंथी ही रह गयी, कोई आंखों में काजल लगा रही थी, वह एक आंख में ही काजल लगा पाई, कोई जूड़ा बांध रही थी, उसका जूड़ा अधखुला ही रह गया। कोई कंचुकी बांध रही थी, उसके बटन आधे खुले ही रह गए, किसी की बांहों में एक ही भुजबन्द बन्धा था, तो कोई एक कंगन ही पहन पायी थी, कोई जूड़े में एक फूल ही लगा पाई थी, किसी के केश में पुष्प बिखरे पड़े थे। किसी के मुक्ताहार की डोरी ढ़ीली थी, तो कोई बांध भी नहीं पायी थी। सब भागे जा रहे थे, गली-मौहल्ले में राजकुमार को निहारने के लिए खड़े थे, झरोखे और गवाक्ष लोगों से भरें थे, सभी राजकुमार को काषाय वस्त्रों में भिक्खा मांगते, द्वार-द्वार भीख मांगते देख रहे थे।

समाचार राजप्रासाद में भी पहुंचा। यशोधरा विकल हो उठी, तड़प उठी, वह प्रासाद पर चढ़ी, वहां से देखा, उसका प्रिय पति, वह पति जो कभी स्वर्ण रथ से नीचे नहीं उतरा था, पैदल चल रहा है, भिक्खा मांग रहा है। इस देश का राजकुमार चीवरधारी मिट्टी का पात्र हाथ में लिए द्वार-द्वार भिक्खा मांग रहा है। उसका हृदय-विदीर्ण हो रहा था, वह राजकुमार को देखकर स्तब्ध रह गयी, उसे आघात लगा, अश्रुधारा फूट पड़ी, उसके आंसू रुक नहीं रहे थे। उसने खिड़की को

झट से बन्द किया और पीठ दीवार से लगाकर खड़ी हो गयी, उसकी मनोदशा विचित्र थी, वह कुछ कहना चाह रही थी, परन्तु कह नहीं सकती थी, रोना चाह रही थी, रो नहीं सकती थी। अपने आंचल से आंसू पौंछती हुई राजा के पास दौड़ पड़ी और कम्पित वाणी में, दर्दानुभूति से उसने निवेदन किया, "महाराज, सुनिये ! आपका पुत्र-राजकुमार..... भिक्खाटन कर रहा है !" यह कहते-कहते वह वेदना के भार से दब गयी, असहनीय वेदना हो रही थी उसे। अपने प्रिय पति को देखकर, अपने राजकुमार को देखकर। उसे हिचकियां आने लगीं, वह सहम कर बैठ गयी।

राजा उठ खड़ा हुआ, वह जिस हाल में था, उसी हाल में उद्यत हुआ। उसने एक हाथ से अपनी धोती को सम्भाला और त्वरित गति से निकलकर दौड़ पड़ा। नौकर-चाकर राजा के पीछे-पीछे दौड़ने लगे, लोग दौड़ने लगे। हांफते-हांफते राजा तथागत के सम्मुख पहुंचा। पुत्र ने पिता को देखा, पिता ने पुत्र को देखा। पिता की आंखें भर आयीं, वात्सल्य उमड़ पड़ा। तथागत शान्त थे, स्थिर थे, निर्मल थे। पिता को देखकर पुत्र मिलने दौड़ा नहीं, उसके दिल में वात्सल्य उमड़ा नहीं, वह मानवीय स्वभाव की दुर्बलताओं के पार जा चुके थे।

शुद्धोदन ने पुत्र में पितृ-प्रेम की कोई प्रतिक्रिया नहीं देखी, कोई हलचल नहीं देखी, भाव और भंगिमा नहीं देखी, वह विस्मित हुआ, उसमें अब आगे बढ़ने का साहस नहीं था। चुपचाप खड़ा हो गया। पिता और पुत्र आमने-सामने थे। पीछे आया जन समूह रुक गया, वह भी स्तब्ध था, राजा को देखकर सब शान्त थे, माहौल नीरव था, शान्त था। राजा की व्यथा-वेग ने उसके मन में प्रबल भूचाल खड़ा कर दिया था, पुत्र-प्रेम का प्रबल वेग उद्वेलित हो उठा, उन्होंने तथागत के हाथों से भिक्खापात्र छीन लिया। महाराजा बोले, "यह क्या ? अपने राज्य में भिक्खाटन ?" राजकुमार अपने राज में भिक्खु?"

तथागत पिता की विकलता देखकर निर्विकार खड़े रहे। राजा ने पुनः कहा, "हमें लज्जित करते हो। ओह ! मेरा नाश कर रहे हो ?".....उसकी मनोदशा शब्दातीत थी। वह पुत्र को पकड़ना चाहता था, परन्तु अपने हाथों की मुट्ठियां भींच कर रह गया। उसकी मनोवेदना आंखों में आंसू बनकर प्रकट होने लगी। वह कमर तक झुका, वह कुछ सोचने लगा, वह कुछ समझ नहीं पा रहा था, वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा हो गया। तथागत ने संयत भाव से कहा, "राजन् ! अपने वंश का यही आचार है।" राजा फूट पड़ा, बोला, "नहीं ! नहीं ! नहीं ! मेरा वंश महासम्मत क्षत्रिय वंश है। हमारे वंश में क्या कोई भिक्खाटनी हुआ है ? क्यों मुझे लज्जित कर रहे हो ?"

तथागत बोले, "महाराज यह आपका वंश नहीं है, यह मेरा वंश है। अनेकों हजार बुद्ध भिक्खाटन करके ही जीवित रहे हैं। बुद्धों का यही आचार रहा है, वह भी बुद्धवंश का एक दायक है, क्षत्रिय वंश तो कभी का छूट गया है, उसने जन्म की फांस को काट दिया है।" ऐसा कहते हुए भगवान ने धर्मोपदेश दिया और कहा, "उठो, प्रमाद मत करो, सुचरित धर्म का आचरण करो। धर्माचारी पुरुष इस लोक में और परलोक में दोनों ही जगह सुखपूर्वक रहता है। उन्होंने लोगों को भी कहा— सुचरित धर्म का आचरण करें, दुराचरण नहीं करें। धर्माचारी इस लोक और परलोक दोनों जगह सुखपूर्वक रहता है।" ऐसा कहते हुए भगवान ने उस समय ये गाथाएं कहीं—

168. उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च।। 13.2।।

अर्थ : *उठें, प्रमाद न करें, सुचरित धर्म का आचरण करें। धर्मचारी (पुरुष) इस लोक और परलोक दोनों जगह सुखपूर्वक रहता (=सोता) है।*

169. धम्मं चरे सुचरितं न तं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च।। 13.3।।

अर्थ : *सुचरित धर्म का आचरण करें, दुराचरण न करें। धर्मचारी इस लोक और परलोक दोनों जगह सुखपूर्वक रहता (=सोता) है।*

शब्दार्थ : उत्तिट्ठे = उठ पड़े। **नप्पमज्जेय्य** = प्रमाद न करे।

वग्ग 13, गाथा 4

यमराज नहीं देखता

(पांच सौ विपश्यक भिक्खुओं की कथा, स्थान—जेतवन)

170. एक बार पांच सौ भिक्खुओं ने भगवान बुद्ध से कर्मस्थान ग्रहण किया। फिर वे अरण्य में विपश्यना हेतु चले गए, लेकिन वहां विपश्यनारत रहते हुए उनको कुछ हाथ नहीं लगा। साधना में भी कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। उन्होंने ऐसा जान कर पुनः भगवान से ठीक से कर्मस्थान ग्रहण करने की सोची, वे भगवान से मिलने जेतवनाराम की ओर रवाना हुए। उनको रास्ते में मृगमरीचिका दिखी. वे इसका ध्यान कर रवाना हुए। वे ज्योंही जेतवन में पहुंचे, भारी बरसात होने लगी, वे विहार के बरामदे में बाहर खड़े हो गए।

वर्षा की बड़ी-बड़ी बूंदें गिर रही थीं और उनसे बुलबुले बन रहे थे और तत्क्षण मिट भी रहे थे। सभी भिक्खुओं का ध्यान उस ओर केन्द्रित हुआ। वे बनते और फूटते बुलबुलों को देखने लगे। उन्होंने आभास किया और यह अनुभूत किया कि यह शरीर भी इन बुलबुलों की भांति उत्पन्न होकर नाश होता है। इससे उनको दृष्टि मिल गयी और अनित्यता के स्वरूप को समझने में उनको कोई देर नहीं लगी, उन्होंने स्कन्धों के अनित्य होने का ज्ञान प्राप्त कर लिया। भगवान अपनी गन्धकुटी में बैठे हुए थे, उन्होंने भिक्खुओं को देखकर कहा, "जो मनुष्य इस लोक को बुलबुले और मरीचिका की तरह देखता है, ऐसे व्यक्तियों को मृत्युराज (भय, मृत्यु या मार) नहीं देखता है।" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

170. यथा बुब्बुलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति।। 13.4।।

अर्थ : *जो इस लोक को बुलबुले की तरह और मृग मरीचिका की तरह देखे उस ऐसे देखने वाले पर यमराज की दृष्टि नहीं पड़ती।*

शब्दार्थ : **यथा बुब्बुलकं** = पानी के बुलबुले के समान। **पस्से** = देखे। **मरीचिकं** = मृगमरीचिका की तरह। **एवं** = इस प्रकार। **लोकं** = लोक को। **अवेक्खन्तं** = देखने वाले को। **मच्चुराजा** = मृत्यु का राजा अर्थात् यमराज। **न पस्सति** = नहीं देखता।

वग्ग 13, गाथा 5

ज्ञानी को आसक्ति नहीं

(अभय राजकुमार की कथा, स्थान—राजगृह, वेणुवनं)

171. एक बार अभय राजकुमार के सीमान्त प्रदेश में हो रहे उपद्रव को शान्त कर वापस आने पर महाराज बिम्बिसार ने प्रसन्न होकर उसे एक नर्तकी और एक सप्ताह के लिए राज्य दिया। अभय राजकुमार आमोद-प्रमोद में खो गया, वह बाहर तक नहीं निकला। आठवें दिन सन्तति महामात्य (मंत्री) की तरह वह भी नहा-धोकर उद्यान में गया, वहां पर उस नर्तकी ने मनमोहक नृत्य पेश किया। नाचते-नाचते वह अचानक गिर गयी, तुरंत उसकी मृत्यु हो गयी। राजकुमार अभय बड़ा उदास हुआ, उसे गहरा आघात लगा। वह वेणुवन की ओर चल पड़ा। वहां जाकर भगवान से बोला, "पूज्य, भन्ते! मेरे शोक को शान्त कीजिये।" उसने अपनी पूरी व्यथा कह सुनायी।

भगवान ने उसको धम्मोपदेश देते हुए कहा, "कुमार ! इस स्त्री के मरने पर तेरे द्वारा बहाये हुए आंसू इस अनादि संसार में प्रमाण नहीं हैं..... शोक मत करो ! यह मूर्खों के फंसने का स्थान है। स्कन्धों से बने इस शरीर की यही परिणिति है। इसके नाश होने पर लोग अनादि काल में आंसू बहाते आए हैं, तुम्हारे इन आंसुओं का कोई फल नहीं है। उठो ! राजकुमार ज्ञानी पुरुष बनो। विचित्रित तथा राजरथ के समान इस संसार को देखो, जहां मूर्ख लोग दुखी होते हैं, और इसमें फंस जाते हैं, किन्तु ज्ञानी लोगों की इसमें आसक्ति नहीं होती है।" इस प्रकार प्रवचन देकर भगवान ने यह गाथा कही—

171. एथ पस्सथिमं लोकं, चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि संगो विजानतं।। 13.5।।

अर्थ : *आओ, चित्रित राजरथ के समान इस लोक को देखो, जिसमें मूर्ख फंस जाते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुषों को आसक्ति नहीं होती।*

शब्दार्थ : एथ = आओ। **पस्सथिमं** = पश्येत + इमं = देखो। **संगो** = आसक्ति। **विजानतं** = विज्ञों की।

वग्ग 13, गाथा 6

जो पीछे प्रमाद नहीं करता

(सम्मुञ्जनि थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

172. जेतवन विहार में एक समय सम्मुञ्जनि नामक थेर रहते थे। वे समय-बेसमय अर्थात् प्रातः या सांय न जानकर सदा झाड़ू लगाया करते थे। थेर रेवत भी उस विहार में ठहरे हुए

थे। वे अपना समय **विपश्यना** साधना में व्यतीत करते थे एवं ध्यान साधना में लीन हो जाते थे। थेर सम्मुञ्जनि ने उनको देखा, तो उसके मन में विचार आया कि यह भिक्खु कितना आलसी है, अपने समय को ऐसे ही खराब कर रहा है, इसे भी विहार के कार्यों में अपने को नियोजित रखना चाहिये, व्यस्त रखना चाहिये, परन्तु यह थेर ऐसा नहीं कर रहा है। यह सोचकर थेर सम्मुञ्जनि थेर रेवत के पास गया और बोला, "भन्ते ! आप प्रमादी हो, लोगों के द्वारा दिये गए भोजनदान पर जीते हो और तुम्हारे मन में तनिक भी यह विचार नहीं आता है कि कभी-कभार तो विहार के किसी कोने में झाड़ू लगा देना चाहिये।"

थेर रेवत ने थेर सम्मुञ्जनि को बैठाया और उसे समझाते हुए बोले, "आवुस ! भिक्खु को सदा झाड़ू देते ही नहीं विचरना चाहिये। उसे प्रातः काल झाड़ू लगाकर भिक्खाटन कर भोजनोपरान्त उसे स्कन्धों के सत्य स्वरूप को पहचानने का यत्न भी करना चाहिये। रात्रि-स्थान या दिन के स्थान में बैठकर उसे बत्तीस आकारों का पाठ करके शरीर के क्षय-व्यय को देखते हुए सांय काल को उठकर अगर वह इच्छा करे तो पुनः झाड़ू लगा देना चाहिये। सदा झाड़ू न देकर अपने लिए भी अवकाश निकालना चाहिये।

थेर सम्मुञ्जनि को रेवत की सलाह उचित लगी, वह ध्यान विपश्यना में रत हो गए और शीघ्र ही अर्हत्त्व को प्राप्त कर लिया। अब धीरे-धीरे विहार के बहुत से स्थान गन्दे होने लगे, अन्य भिक्खुओं को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने थेर सम्मुञ्जनि से पूछा, "आवुस ! अब तुम पहले की तरह झाड़ू क्यों नहीं लगाते हो..... अमुक-अमुक स्थान गन्दे हो गए हैं, वहां झाड़ू क्यों नहीं लगाते हो ?"

थेर सम्मुञ्जनि बोले, "आवुसो ! पहले मैं जानता नहीं था, मैने प्रमाद के समय में ऐसा किया है, अब मैं अप्रमादी हो गया हूं।" जब भिक्खुओं ने उसके मुंह से ऐसा सुना तो वे भगवान के पास गए और बोले, "भगवान ! यह थेर अर्हत्त्व पाने की झूठी बात करते हैं।" भगवान ने उन्हें कहा, "भिक्खुओ ! सम्मुञ्जनि ने निश्चय ही अर्हत्त्व पा लिया है।" मेरे पुत्र ने पहले प्रमाद के समय झाड़ू देते विचरण किया है, किन्तु अब मार्ग फल के सुख से समय व्यतीत कर झाड़ू नहीं लगाता है। भिक्खुओं को धम्मोपदेश देते हुए भगवान ने कहा, "जो पहले प्रमाद करके भी, बाद में प्रमाद नहीं करता है, वह इस लोक को उसी प्रकार से प्रकाशित करता है, जैसे कि बादलों से मुक्त हुआ चन्द्रमा गगन को प्रकाशित करता है।" ऐसा कहते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

172. यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमजति।
सो'मं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा।। 13.6।।

अर्थ : जो पहले प्रमाद करके पीछे प्रमाद नहीं करता, वह इस लोक को मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भांति प्रकाशित करता है।

शब्दार्थ : पुब्बे = पहले। **पमज्जित्वा** = प्रमाद करके। **पच्छा** = पश्चात्। **पभासेति** = प्रकाशित करता है। **अब्भा** = बादल से। **मुत्तो** = मुक्त। **चन्दिमा** = चन्द्रमा।

वग्ग 13, गाथा 7

लोक को प्रकाशित करता है

(अंगुलिमाल थेर की कथा, स्थान—जेतवन)

173. कोसलराज पसेनदि के यहां एक कुलीन ब्राह्मण पुरोहित था। उसका नाम गार्ग्य (भार्गव) था। उसकी पत्नी का नाम मैत्रयणी था। उसके घर एक पुत्र का जन्म हुआ, जिस दिन यह बच्चा जन्मा, उस दिन राजकीय शस्त्रागार में रखे अस्त्र-शस्त्र चमकने लगे व नगर में भी अस्त्र-शस्त्र बजने लगे। राजा अपनी शैय्या पर सोता हुआ देखता रहा और सोचता रहा, रात भर उसे नींद नहीं आयी। उधर पुरोहित रात्रि को ही अपने बच्चे का भविष्य जानने हेतु ज्योतिषियों से सम्पर्क साधने में व्यस्त था।

सुबह हुई पुरोहित राजा के दरबार में गया। राजा को अभिवादन कर कुशल-क्षेम पूछते हुए बोला, "राजन ! रात्रि को नींद तो आराम से आई थी ?" राजा ने कहा, "मैं कैसे सुख की निंदा सो सकता हूं सौम्य ? रात भर शस्त्रागार में अस्त्र-शस्त्र ज्योतिर्मय होते रहे।" पुरोहित बोला, "राजन ! भयभीत मत होइये, मेरे घर पुत्र का जन्म हुआ है।" राजा ने पूछा, "उससे क्या होता है ?" पुरोहित का उत्तर था, "राजन ! उसके प्रभाव से ही नगर के समस्त अस्त्र-शस्त्र ज्योतिर्मय हो उठे थे।"

राजा ने उत्सुकता से पूछा, "आपका पुत्र बड़ा पुरोहित होगा या गुरु होगा ?" ब्राह्मण उदास हो गया, वह बोलना चाहता था, परन्तु बोल न सका, लज्जित होते हुए बोला, "नहीं, राजन ! "राजा की उत्सुकता और बढ गयी। वह बोला, "तो फिर उसका भविष्य क्या है ? पुरोहितों ने, ज्योतिषियों ने क्या कहा है ?" पुरोहित मुंह लटकाये खड़ा था, उसके मुख से निकला, "चोर होगा।" राजा का अगला प्रश्न था, "वह अकेला चोर होगा या उसका दल होगा ?" पुरोहित का मुख प्रभावहीन था, वह बोला, "वह अकेला चोर होगा, उसका कोई दस्यु दल नहीं होगा।" राजा ने सोचते हुए कहा, "फिर उसे मार दो।" पुरोहित का पुत्र मोह बोल उठा, "नहीं राजन्! वह अकेला चोर होगा तो उस पर नियंत्रण रखा जा सकेगा।" और उदासीन होकर राजा से चर्चा में व्यस्त हो गया। राजा के मन में उसके कारण अहिंसा की भावना पैदा हुई, अस्तु, पुरोहित ने उसका नाम अहिंसक रख लिया।

अहिंसक बहुत बलशाली था, उसमें सात हाथियों का बल था, वह मेधावी था, कुशाग्र बुद्धि था, व्रत-सम्पन्न था, आचार-प्रिय था, प्रियवादी था। उसे तक्षशिला पढ़ने के लिए भेज दिया। तक्षशिला उस समय विद्या के क्षेत्र में दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त विद्यापीठ थी। अहिंसक के गुणों को जानकर उसके साथी विद्यार्थी उससे ईर्ष्या करते थे, डाह करते थे, उससे जलते थे, वह सबसे श्रेष्ठ था, प्रवीण था, प्रज्ञावान था, बलशाली था, ब्राह्मण कुल का था। वह अपने इन गुणों के कारण गुरु एवं गुरुमाता का प्रिय था। सहपाठियों को उसे नीचा दिखाने का कोई मौका ही नहीं मिलता था।

विद्यार्थियों ने एक दिन निश्चय किया, इससे आचार्य को विमुख करना चाहिये। इसके लिए उन्होंने गुरुमाता को, आचार्याणी को माध्यम बनाने का निश्चय किया। उन्होंने योजना बनायी और उसके अनुसार एक दल गया—गुरु के पास और अहिंसक की करने लगा—शिकायत। गुरु ने उन्हें फटकार लगायी, भगा दिया। कुछ समय बाद दूसरा दल गया, उसने भी वही बात की, गुरु को सन्देह हुआ, तीसरा दल गया, उसने भी ऐसी ही वैसी बात की। सब की बातों का सार था, अहिंसक बेशक सुशील है, गुणी है, परन्तु वह गुरु के घर को दूषित कर रहा है। वह गुरु के पास गया। गरु उसे देखते ही भड़क गया। बोला, 'पापी तुझे मेरा ही घर दूषित करना था ? जा जंगल में जाकर एक हजार लोगों की हत्या कर तभी तेरी गुरुदक्षिणा स्वीकार होगी।' अहिंसक ने गुरु की वंदना की, स्तवन किया और कोसल के जालिनी वन में प्रवेश कर गया। वह जंगल में से गुजरने वाले रास्ते के मध्य में, आरम्भ में और अन्त में खड़ा हो जाता और राहगीरों की हत्या करने लगा। उसका प्रयोजन हत्या करना मात्र था, वह राहगीरों की सम्पत्ति, धन, वस्त्र, आभूषण आदि को स्पर्श तक नहीं करता था। गुरु के पास गया, गुरु को बताया उसने लोगों को मार दिया है। गुरु ने प्रमाण मांगा। वह फिर दुविधा में पड़ा, फिर जंगल में गया। लोगों को मार कर अंगुलियां काट लेता, एक जगह पर रख लेता, परन्तु वहां भी गुम होने का डर था। अस्तु, उसने व्यक्तियों को मार कर एक व्यक्ति की एक अंगुली को धागे से पिरोकर माला बनाकर पहननी शुरू कर दी। लोगों ने उसका नाम अंगुलिमाल रख दिया।

जंगल निर्जन होने लगा। राहगीरों ने अपना रास्ता बदलना शुरू कर दिया, लकड़हारे डर से वहां जाने से कतराने लगे। वन में आदमी नहीं मिलते थे। वह गांवों में आकर हत्या करने लगा, लोगों ने गांव खाली करने शुरू कर दिये, खाली हो गए। वह निगम-शहरों की ओर प्रस्थापित हुआ। वहां लोगों को मारने लगा। लोगों में त्राहि-त्राहि मच गयी, लोग आक्रान्त हो गए। सब इकट्ठे हुए, राजा पसेनदि के दरबार में गए। राजा को वृतान्त सुनाया। राजा ने सान्त्वना दी, विश्वास दिलाया। राजा ने अपनी सेना भेजी, हाथी भेजे, परन्तु सब परास्त हो गए, अंगुलिमाल किसी के कब्जे में नहीं आया। अहिंसक की माता मैत्रयणी को यह सुनकर बहुत दुख पहुंचा। वह जंगल में अंगुलिमाल को समझाने के लिए निकल पड़ी। उधर अंगुलिमाल ने अपने गले में नौ सौ निन्यानवे लोगों की हत्या कर उनकी एक-एक अंगुली अपनी माला में डाल रखी थीं, बस एक अंगुली की कमी थी, वह बड़ा व्यग्र था, उग्र था, व्यथित था।

तथागत जेतवन में विहार कर रहे थे, उनके कानों तक भी बात पहुंची, उसे गम्भीरतापूर्वक सुना, कुछ बोले नहीं। सुबह-सुबह भगवान ने हाथ में पात्र धारण कर चीवर से सुआच्छादित हो, जंगल की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में लोगों ने भगवान को अंगुलिमाल के बल की, उसके क्रूर कर्म की कई कथाएं सुनायीं। भगवान संयत थे, मार्ग से विरत नहीं हुए, वे चलते रहे—अंगुलिमाल के निर्जन वन की ओर। उधर अंगुलिमाल की माता आ रही थी, इधर भगवान जंगल में विचरण कर रहे थे, और अंगुलिमाल कई दिनों की दौड़-धूप करने के बावजूद अन्तिम एक आदमी की हत्या नहीं कर सका था। अस्तु, अच्छी तरह से सो भी नहीं पाया था, नींद भी नहीं

ले पाया था। उसने भी निश्चय कर लिया था कि आज सुबह जो भी पहला आदमी मिलेगा, उसको मार कर वह अपनी माला पूरी करेगा और गुरु के सम्मुख उपस्थित होगा, अपनी दक्षिणा अर्पित करेगा और विद्या को फलवती बना देगा।

अंगुलिमाल ने भी जंगल में विचरण किया, उसने देखा एक व्यक्ति शान्त, गम्भीर मुद्रा में आ रहा है। जिस मार्ग से उसके आतंक से कोई गुजरता नहीं है, उसी पथ पर आ रहा है। उसे गुस्सा आया, कुपित हुआ, उसने तीर चलाया। तथागत को मारने के ध्येय से पीछे हो लिया, निशाना लगाना चाहता था, निशाना लग नहीं रहा था, वह तथागत के पीछे भागा, पर तथागत की गति पकड़ नहीं पाया। उसे आश्चर्य हुआ, वह जोर से चिल्लाया— ''श्रमण ! ओ श्रमण'' रुक जा ! खड़ा रह !! ''भगवान अपने संयत भाव में थे, बोले, ''मैं स्थित हूं, मैं रुका हुआ हूं।'' अंगुलिमाल बोला, ''अरे ! श्रमण चले जा रहे हो और कहते हो कि मैं स्थित हूं, खड़ा हूं, इतना झूठ ?'' ''सुना है श्रमण मिथ्या भाषण नहीं करते, सत्यवादी होते हैं।'' भगवान ने फिर कहा, ''मैं स्थिर हूं, मैं खड़ा हूं।'' अंगुलिमाल चकित था, उसकी दृष्टि में भगवान चल रहे थे। वह पुनः बोला, ''अरे, श्रमण ! चले जा रहे हो और कहते हो खड़ा हूं, स्थित हूं।'' भगवान बोले, ''अंगुलिमाल ! तू चल रहा है, मैं तो खड़ा हूं, स्थित हूं।'' अंगुलिमाल हंसा, ठहाका लगाया, बोला, ''वाह ! क्या खूब, तुम खड़े हो और मैं चल रहा हूं, कैसी उल्टी बात ?'', भगवान फिर बोले, ''अंगुलिमाल ! मैं ठीक कहता हूं।'' अंगुलिमाल से रहा नहीं गया आखिर उसने पूछा, 'कैसे?' भगवान ने उसे कहा, ''प्राणियों के लिए मुझमें दण्ड भावना नहीं है, अतएव मैं सदा स्थित हूं, तू अस्थित है, प्राणियों में असंयमी है, मैं संयमी हूं, दण्ड का तुमने परित्याग नहीं किया है।''

अंगुलिमाल की चेतना जाग्रत हो गयी। तथागत के वाक्य उसे गुरु तुल्य लगे। उसने विचार किया, किसी महर्षि से मिले हुए बहुत दिन हो गए हैं, इस महावन में श्रमण के अनायास ही दर्शन हो गए हैं, उससे धर्म युक्त गाथा सुनेगा, चिरकाल के पापों से मुक्त होगा। उसे होश आया, हथियार फेंक दिये और तथागत के पास आया, वन्दना की और प्रार्थना की— प्रव्रजित होने की।

तथागत ने 'आ, भिक्खु' कहकर उसे अपने संघ में ले लिया। भगवान अंगुलिमाल को लेकर सावत्थि आए, जेतवन पहुंचे। अंगुलिमाल ने चीवर धारण कर लिया। वह तथागत के पास बैठ गया। उधर पसेनदि के दरबार में अंगुलिमाल के अत्याचार की आवाज गूंज रही थी। राजा ने तथागत से सलाह-मशविरा करना उचित समझा। वह शाम को दो सौ अश्वारोहियों के साथ जेतवन पहुंचा। जेतवन पहुंचकर तथागत की वन्दना की, स्तुति की, अभिवादन किया और एक आसन पर बैठ गया।

तथागत ने कुशल क्षेम पूछते हुए कहा, ''राजन ! चिन्ता का विषय क्या है ? आप व्याकुल नजर आ रहे हैं। क्या बिम्बिसार आप पर क्रुद्ध हैं या लिच्छवी के लोग ?'' राजा ने निवेदन किया, ''भगवान ! उनमें से कोई नहीं। चिन्ता का विषय अंगुलिमाल है। मैं अपनी इस अश्वारोही सेना के साथ उसी का मर्दन करने निकला हूं।'' भगवान ने कहा, ''राजन् ! अगर अंगुलिमाल

को आप श्रमण भिक्खु के रूप में देखेंगे तो आप क्या करेंगे ?" राजा बोला, "वह वन्दनीय होगा, उसका प्रत्युत्थान करेंगे। उसे आसन ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित करेंगे। परन्तु इतना दुःशील प्राणी शीलसंयमी नहीं हो सकता।"

अंगुलिमाल तथागत के पास बैठा था, उसका हाथ पकड़ते हुए तथागत बोले, "राजन् ! यह है अंगुलिमाल।" राजा उसे देखते ही भयभीत हो गया। स्तब्ध हो गया, उसे रोमांच हुआ। जनता में भय की लहर व्याप्त हो गयी, किसी को भी यकीन नहीं हो रहा था। कोई भी उसे पहचान नहीं सका था, कोई भी सपने में भी यह नहीं सोच सकता था कि अंगुलिमाल इस रूप में भी आ सकता है। जो उसे जानते थे, उनके मन में भय और घृणा उभरना स्वाभाविक था, दूसरों के लिए वह सामान्य व्यक्ति था। अपने अपने मन के भाव थे— सभी के मन में।. .

राजा ने अंगुलिमाल से पूछा, "आप अंगुलिमाल हैं ?" उसका उत्तर था, "हां !" राजा ने उसके मां-बाप का नाम पूछा, उसने बताया पिता गार्ग्य माता मैत्रयणी थी। राजा बोला, "गार्ग्य-मैत्रयणी पुत्र! आप सुख से भरे मेरे राज्य में अभिरमण कीजिये।" राजा ने तथागत की ओर मुखातिब होते हुए निवेदन किया, "भगवान ! बिना दण्ड, बिना शस्त्र आपने कैसे अंगुलिमाल का दमन कर लिया ? हमारे शस्त्र और दण्ड, सेना और आयुद्ध उसका दमन करने में असफल हो गए थे।" ऐसा कह उसने जाने की इजाजत ली और वह राजप्रासाद वापस आ गया।

अंगुलिमाल चीवर पहन व भिक्खापात्र हाथ में ले पिण्डपात हेतु सावत्थि में विचरने लगा। जनता ने उसके दुष्कृत्यों की कथाएं सुन रखी थीं, उसके अत्याचार की कहानियां जान रखी थीं, लोग क्रुद्ध थे, उग्र थे। वे अंगुलिमाल पर टूट पड़े। किसी ने पत्थर मारा, किसी ने डंडे मारे, किसी ने कंकड़ फेंके, किसी ने कीचड़ फेंकी। अंगुलिमाल का सिर फट गया, लहुलूहान हो गया। वह भगवान के पास आया। उसके जुबान पर फिर भी कटु शब्द नहीं था, मन में रंज नहीं था, वह गम्भीर था, संयत था। भगवान ने कहा, "ब्राह्मण ! तूने स्वीकार कर लिया ..... कर्मों का फल भोगना पड़ता है, कोई त्राता नहीं है, व्यक्ति खुद ही खुद का मुक्तिदाता है। पुत्र ! तुमने अकुशल कर्म किए हैं, धैर्य रखो, यह अकुशल कर्म तुम्हें अनगिनत निरय गति देने वाले हैं, उन्हें भून डालो।"

अंगुलिमाल ध्यान-विपश्यना में मन लगाने लगा। ध्यानावस्थित हुआ और विमुक्ति का अनुभव पाकर वह अर्हत हो गया। उसने एक दिन उदान कहा, "मेघ से मुक्त चन्द्रमा के समान वह इस लोक में प्रभासित करता है, जो प्रथम अर्जित कर पश्चात् उसे मार्जित करता है। वह मुक्त है—जिसका पाप कर्म पुण्य से ढक जाता है। जो तरुण भिक्खु बुद्ध शासन में प्रविष्ट होता है, वह मेघ से मुक्त राशि तुल्य इस लोक को प्रकाशित करता है।"

अंगुलिमाल के परिनिर्वाण पर भिक्खुओं के द्वारा पूछने पर तथागत ने बताया, "भिक्खुओ ! मेरे पुत्र का परिनिर्वाण हो गया है।" भिक्खु बोले, "भगवान ! इतने मनुष्यों को मारकर भी आदमी परिनिर्वृत कैसे हो सकता है ?" भगवान ने उन्हें कहा, 'हां ! भिक्खुओ, अंगुलिमाल ने पहले एक कल्याणमित्र को न पाकर इतना पाप किया, किन्तु बाद में कल्याणमित्र का सहारा पाकर वह अप्रमत हो गया। इसलिये वह पापकर्म पुण्य से ढक गया।' भगवान ने उस समय यह गाथा कही—

173. यस्स पापं कतं कम्मं, कुसलेन पिहीयति।
सो'मं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा।। 13.7।।

अर्थ : *जिसका किया पाप-कर्म उसके पुण्य से ढक जाता है, वह इस लोक को मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भांति प्रकाशित करता है।*

शब्दार्थ : **कुसलेन** = पुण्य कर्म से। **पिहीयति** = ढक जाता है।

वग्ग 13, गाथा 8

यह लोक अन्धे के समान है

(पेशकार कन्या की कथा, स्थान—अग्गालव चेतिय)

174. भगवान ने तीन वर्षों के अन्तराल से अपनी दिव्यदृष्टि से देखा कि आलवी के सूत्रकार की पुत्री स्रोतापन्न फल को प्राप्त कर सकती है। अस्तु, वे धम्म देशना हेतु दूसरी बार आलवी की ओर पांच सौ भिक्खुओं के साथ चल दिये। वहां पहुंच कर वे अग्गालव विहार में रहने लगे। सूत्रकार की लड़की ने जब सुना कि तथागत पुनः अपने पांच सौ भिक्खुओं के साथ आए हैं, तो उसके मन में इच्छा हुई कि वह भी धम्मसभा में जाये और प्रवचन सुने। वह षोडशी तीन वर्ष से मरण-स्मृति की भावना करती थी।

सूत्रकार (पेशकार) ने अपनी पुत्री से कहा, "बेटी ! जल्दी से सूत के वेष्ठित तसर लेकर आओ, यह बहुत जरूरी है।" लड़की अपने पिता को वेष्ठित तसर देने के लिए जा रही थी, रास्ते में भगवान के धम्म प्रवचन सुनने के लिए उसने सूत लपेटे हुए तसरों से भरी टोकरी को रख दिया और भगवान को प्रणाम कर प्रसन्न चित्त से बैठ गयी। भगवान की दृष्टि उस पर पड़ी, उन्होंने देखा यह युवती मरण-स्मृति भावना करती है और शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होने वाली है। उन्होंने जुलाहे की उस युवती से पूछा,

"कुमारी ! कहां से आ रही हो ?"

"भन्ते ! नहीं जानती हूं।"

"कहां जाओगी ?"

"भन्ते ! नहीं जानती।"

"क्या ! नहीं जानती हो ?"

"भन्ते ! जानती हूं।"

"जानती हो ?"

"भन्ते ! नहीं जानती हूं।"

भगवान के साथ इस प्रकार मनमानी बात करते हुए देखकर ग्रामवासी उस बाला पर नाराज हुए, किन्तु भगवान ने उन्हें समझाकर लड़की को पुनः पूछा कि उसने जो उत्तर दिये हैं, उनका खुलासा करे। भगवान बोले, 'कुमारी कहां से आ रही हो ?' पूछने पर, 'नहीं जानती हूं' कह रही

हो, इसका क्या अभिप्राय है। लड़की ने बताया, 'भगवान मेरे पूत्रकार (पेशकार) के घर से आने को आप जानते हो, किन्तु मैं कहां से मरकर यहां उत्पन्न हुई हूं, यह नहीं जानती हूं। इसलिये मैंने आपके यह पूछने पर कि कहां से आ रही हो, यह उत्तर दिया कि नहीं जानती हूं।' भगवान ने उसके प्रति साधुकार दिया। लड़की ने दूसरे प्रश्नों के दिये गए उन उत्तरों का भी इसी प्रकार से सारांश दिया। वह बोली 'पूज्य भन्ते ! आपके दूसरे प्रश्न का उत्तर मैं नहीं जानती हूं, इसलिये कह दिया कि मैं नहीं जानती हूं कि मैं मरकर कहां जाऊंगी और आपके तीसरे प्रश्न के अभिप्राय का उत्तर मैं जानती हूं, इसलिये कह दिया क्योंकि मैं यह जानती हूं कि मुझे मरना है और इसी प्रकार चौथे प्रश्न का उत्तर दिया कि मैं यह नहीं जानती हूं कि किस समय मरूंगी।"

भगवान ने चारों प्रश्नोत्तरों के बाद साधुकार दिया और परिषद को बुलाकर कहा, "आपमें से ज्यादातर लोग इसके द्वारा दिये गए उत्तरों को नहीं समझे हो, नहीं जानते हो और केवल नाराज होते हो। जिनके प्रज्ञा-चक्षु नहीं हैं, वे अन्धे ही हैं, किन्तु जिनके प्रज्ञा-चक्षु हैं। वे ही चक्षुवान हैं। यह संसार अंधा है, यहां बहुत थोड़े ही लोग देखते हैं, जाल से छूटे पक्षी की भांति कोई विरला ही स्वर्ग को जाता है।" भगवान ने आगे कहा, "यह संसार अन्धे के समान है, उसके सदृश है, इसमें देखने वाले कम ही हैं। जैसे जाल में से कोई-कोई पक्षी ही मुक्त होकर विचरण करता है, वैसे ही इस भव में फंसे प्राणियों में भी कोई-कोई ही मुक्त होता है, उसकी सुगति होती है और स्वर्ग को जाता है।" भगवान ने इस प्रकार प्रविचय कर यह गाथा कही—

174. अन्धभूतो अयं लोको, तनुकेत्थ विपस्सति।
सकुन्तो जालमुत्तो'व अप्पो सग्गाय गच्छति।। 13.8।।

अर्थ : *यह लोक अन्धे के समान है, यहां देखने वाले थोड़े ही हैं, जाल से मुक्त पक्षी की भांति विरले ही स्वर्ग को जाते हैं। अर्थात कम ही स्वर्ग(=सुवर्ग=सुगति) को प्राप्त होते हैं।*

शब्दार्थ : तनुकेत्थ =(तनुका + एत्थ) यहां, अल्प। **सकुन्तो** = पक्षी। **अप्पो** = अल्प। **सग्गाय** = स्वर्ग के लिये।

वग्ग 13, गाथा 9

पण्डित निर्वाण को पाते हैं

(तीस भिक्खुओं की कथा, स्थान—जेतवन)

175. शास्ता के जेतवन में विहार करते समय एक दिन तीस भिक्खु भगवान के पास श्रद्धावनत होने आये। थेर आनन्द हमेशा भगवान की चारिका में साथ-साथ रहते थे। इन भिक्खुओं को भगवान से बातचीत करता देख थेर आनन्द बाहर जाकर खड़े हो गए। वे भिक्खु भगवान का उपदेश सुनकर अर्हत हो गए और आकाश मार्ग से उड़कर चले गए।

आनन्द थेर जब उन भिक्खुओं के निकलने की राह देखते-देखते ऊब गए, तब अन्दर गए। वहां उन भिक्खुओं को न देखकर आनन्द थेर भगवान से पूछते हैं, "भगवान ! यहां तीस भिक्खु आए थे, वे कहां हैं ?"

"आनन्द, वे चले गए।"

"भगवान ! किस मार्ग से ?"

"आनन्द ! आकाश मार्ग से।"

"क्या भगवान ! वे क्षीणासव थे ?"

"हां, आनन्द ! मेरे पास धम्म-श्रवण कर उन्होंने अर्हत्त्व पा लिया।"

उस समय आकाश में हंस उड़ रहे थे। शास्ता ने कहा, "आनन्द ! जिसने चारों ऋद्धिपादों की भावना की है, वह हंसों के समान आकाश से जाता है।" भगवान ने आगे कहा, "ऋद्धि की अपनी महिमा है। जैसे हंस सूर्य के परिभ्रमण पथ अर्थात् आकाश में जाते हैं, वैसे ही ऋद्धि प्राप्त भी आकाश में गमन करते हैं। धैर्यशाली लोग, सेना सहित मार को पराजित कर, उसे जीत कर इस लोक से चले जाते हैं। धीर पुरुष मार को वाहिनी समेत जीत कर इस लोक को पार कर लेते हैं।" भगवान ने उस समय यह गाथा कही थी—

175. हंसादिच्चपथे यन्ति, आकासे यन्ति इद्धिया।
नीयन्ति धीरा लोकम्हि, जेत्वा मारं सवाहिनं।। 13.9।।

अर्थ : *हंस सूर्य-पथ (=आकाश) में जाते हैं, ऋद्धि से योगी भी आकाश में गमन करते हैं। धीर पुरुष सेना-सहित मार को पराजित कर लोक से (निर्वाण को) चले जाते हैं।*

शब्दार्थ : हंसादिच्चपथे = हंस (या योगी)। **आदिच्चपथे** = आकाश में। **यन्ति** = जाते हैं। **इद्धिया** = ऋद्धि (ऐश्वर्य) प्राप्त। **नीयन्ति** = ले जाये जाते हैं। **लोकम्हि** = लोक से। **सवाहनं** = सेना सहित।

वग्ग 13, गाथा 10

झूठे को कोई पाप अकरणीय नहीं

(चिंचा माणविका की कथा, स्थान—जेतवन)

176. भगवान का संघ सुसंयत है, प्रतिपन्न है, सुआख्यात है। भगवान के समय ही इसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। दूसरे कई मत-मतान्तर वालों को भिक्खुओं के रहन-सहन, उनके आचरण तथा व्यवहार और ख्याति के कारण ईर्ष्या होती थी, जलन होती थी। उनका मान-सम्मान कम होने लगा। उनके पास श्रद्धालु कम जाने लगे। अतः उन्हें धन लाभ भी कम होने लगा। उनकी दशा उस जुगनू के समान हो गयी थी, जिसकी प्रभा-रश्मि सूर्योदय होते ही समाप्त हो जाती है, नहीं दिखती है, विलुप्त हो जाती है। तैर्थिक इससे चिन्तित हुए, वे एकत्रित हुए, आपस में परामर्श किया कि ऐसा कुछ किया जाय, जिससे बुद्ध और संघ की अपकीर्ति हो जाय, लोगों का विश्वास उठ जाय और संघ का नाश हो जाय।

सावत्थि में चिंचा नाम की एक युवती थी, रूपवती थी, सौभाग्य प्राप्त थी, उसके शरीर की कान्ति अप्सरा तुल्य थी, वह तैर्थिकों के उपाश्रय में आया-जाया करती थी। एक दिन वह तैर्थिकों के आराम में गयी, उसने वन्दना की, और खड़ी हो गयी। किसी ने उससे बात नहीं की, उसने निवेदन किया। तैर्थिक बोले—

'बहिन ! बुद्ध का लाभ-सत्कार यहां खूब हो रहा है।'

'देख रही हूं।'

'क्या तुम इसे नित्य नहीं देख रही हो।'

'देखती हूं।'

'हमारा तो विनाश हो रहा है।'

उनमें आपस में बात हुई। चिंचा बोली, 'आप कहिये, हम क्या करें। वे बोले, 'बहिन। सचमुच तुम हमारा सुख चाहती हो, तो श्रमण गौतम की अपकीर्ति करा सकती हो।' उनमें परामर्श हुआ और चिंचा माणविका को समझाकर इस कार्य हेतु नियुक्त कर लिया।

चिंचा माणविका स्त्री के चरित्र अभिनय में माहिर थी, निपुण थी, मायावी थी। उसने भगवान को बदनाम करने का मार्ग निकाल लिया। वह प्रतिदिन संध्या को सज-धज कर उस समय जेतवन की ओर जाती, जब सारे उपासक धम्म-श्रवण कर जेतवन से निकलते थे। लोगों को तो यह दिखाती थी कि वह जेतवन जाती है, परन्तु वह पास के तैर्थिकों के आश्रम में रहती और सुबह होते ही जब लोग जेतवन की ओर आने को होते, वह जेतवन से आने का उपक्रम करते हुए वहां से गमित होती थी। लोग उससे पूछते तो वह बोलती मैं रात भर श्रमण गौतम के पास ही रही हूं।' लोगों में कानाफूसी होने लगी। उससे पूछते, वहां क्या कथा सुनती हो ? वह शरीर मटकाते हुए व आंखें चमकाते हुए बताती; नहीं ! तथागत के साथ एक ही गन्धकुटी में विहार करती हूं।

तीन महीने बीत गए। चिंचा अपने पेट पर कपड़ा बांध कर जाने लगी। लोगों ने देखा चिंचा का पेट फूला है। लोगों ने समझा, चिंचा माणविका गर्भवती है। जैसे-जैसे महीने गुजरते गए, वह वैसे-वैसे पेट पर कपड़ों की पर्त ज्यादा बढ़ाती गयी और लोगों को प्रकट करती कि वह गर्भवती है। वह शिथिल इन्द्रिय होने का भी अच्छा स्वांग करने लगी। लगभग आठ-नौ महीने तक यह क्रम चलता रहा। लोगों में शंका बढ़ती गयी।

जब नौ-दस महीने बीत गए तो वह संध्या को पेट पर लकड़ी बांध, लाल वस्त्र पहन, उदास मुंह बना जेतवन पहुंची। भगवान उपदेश दे रहे थे। सावत्थि और सावत्थि के बाहर से बहुत बड़ा जन-सैलाब भगवान का धम्म-प्रविचय दत्तचित्त होकर सुन रहा था। अकस्मात चिंचा शिथिल वेदना का नाटक करते हुए खड़ी हो गयी और भगवान के सम्मुख जाकर बोलने लगी, "महाश्रमण ! आप तो बड़े जन समूह के लिए धम्मोपदेश कर रहे हो, आपकी वाणी बड़ी मधुर है, किन्तु आपके कारण में गर्भवती हो गयी हूं, मेरा गर्भ पूरा हो गया है। मेरी प्रसूति का क्या प्रबन्ध किया है, घी-तेल आदि कहां से आयेगा ? वह हांफ रही थी, फिर भी बोले जा रही थी। लोगों ने उपदेश में विघ्न पड़ते देखा, कौतुहल हुआ, उनकी दृष्टि में अन्तर पड़ने लगा। चिंचा ने क्रोध जताते हुए कहा, "यदि आप नहीं कर सकते तो अपने सेवकों में से कोसलराज पसेनदि, अनाथपिण्डिक या विशाखा में से किसी से कहिये कि वे मेरा प्रबन्ध करें। आप रमण-सुख ही भोगना जानते हो, गर्भ का उपचार नहीं जानते। उसका ख्याल नहीं आपको।"

लोगों की शंकित नजर तथागत पर केन्द्रित होने लगी, वह बोले जा रही थी और तथागत मौन

थे, संयत थे। वे बोले, 'बहिन !' चिंचा फिर चिल्लायी, 'ओह ! मुझे बहिन कहते हो ?' वह आंख, नाक, भौं, मुंह, भी सिकोड़ने लगी और व्यंग्य करने लगी। भगवान की गम्भीर स्वर में सिंह तुल्य वाणी गूंजी 'बहिन ! इस सत्य या असत्य को हम और तुम ही जानते हैं।' चिंचा बोली, 'ठीक कहते हो, महाश्रमण ! इसे दूसरा और कौन जान सकेगा, यह तो हमारे आपके बीच की बात है।'

उसके बार-बार मटकने से, भाव-भंगिमा करने से अचानक उसके पेट के ऊपर बंधी लकड़ी की कटोरियां खिसकीं। इसे उसने भय से सम्भाला। वह कांप गयी, भेद खुलने पर अनर्थ हो सकता है। वह थरथर्राने लगी। हवा चल रही थी, तेज झौंका आया, वायु ने उसके वस्त्र को उड़ा दिया। उसने अपने वस्त्र को सम्भालना चाहा, उसका हाथ काष्ठ मण्डलिका से हट गया। हाथ हटते ही काष्ठ मण्डलिका उसके पैर के पास धड़ाम-धड़ाम कर गिर पड़ी। गर्भ जैसा फूला पेट पिचक कर रह गया। उसके पैर आहत हो गए।

लोग उस पर बिगड़े, बोले, छिः छिः तथागत की निन्दा करती है। ऐसा कहते हुए उसे मारने दौड़े। वह प्राण भय से भागी, भीड़ पीछे थी, भंयकर कोलाहल था। तथागत के नेत्रों से ओझल होते ही पृथ्वी पर गिर पड़ी, उसके प्रांण-पंखेरू उड़ गए। दूसरे दिन धम्म सभा में चर्चा चली। भगवान ने कहा, "भिक्खुओ ! न केवल इसी समय यह मेरी झूठी निन्दा करके विनाश को प्राप्त हुई है, बल्कि पहले भी इसने निन्दा ही की थी।" भगवान ने महापदुम जातक का उपदेश देते हुए बताया, "भिक्खुओ ! जिन्होंने एक धर्म-सत्यवादिता को त्यागकर मृषावादिता को अपना लिया है, ऐसे परलोक की चिन्ता को त्यागें, पुरुषों के लिए कोई भी पापकर्म अकरणीय नहीं है। एक धर्म सत्यवादिता को त्यागकर मृषावादिता को अपना लिया है, ऐसे परलोक की चिंता त्यागें, पुरुषों के लिए कोई भी पापकर्म अकरणीय नहीं है। एक धर्म अर्थात् सत्यवादिता का अतिक्रमण करने वाले, मृषावादी तथा परलोक के प्रति उदासीन प्राणी के लिए ऐसा कोई पाप नहीं है, जो अकार्य है। अर्थात् कोई भी कार्य ऐसा नहीं रह जाता है, जो वह नहीं कर सके। यह कहकर भगवान ने यह गाथा कही—

176. एकं धम्मं अतीतस्स, मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स, नत्थि पापं अकारियं ।। 13.10।।

अर्थ : *एक धर्म (=सत्य) का अतिक्रमण कर जो झूठ बोलता है, परलोक की चिन्ता से रहित उस पुरुष के लिए कोई पाप ऐसा नहीं रह जाता, जो वह न कर सके।*

शब्दार्थ : एकं धम्मं अतीतस्स = एक धर्म का अतिक्रमण करने वाले का। **मुसावादिस्स** = मृषावादी का। **वितिण्णपरलोकस्स** = परलोक के प्रति उदासीन का।

वग्ग 13, गाथा 11

कंजूस देवलोक नहीं जाते

(असदृश दान की कथा, स्थान—जेतवन)

177. एक बार भगवान बुद्ध चारिका करते हुए पांच सौ भिक्खुओं के साथ जेतवन आये। राजा पसेनदि ने विहार में आकर भगवान को भोजन के लिए आमन्त्रित किया और उनके पास

नगरवासियों को भी उसने आमन्त्रित किया कि वे आयें और उसके दान देने की विधि को देखें। भोजन बनाया गया, भिक्खुसंघ आया, भोजनदान हुआ, पुण्यानुमोदन हुआ। भिक्खुसंघ विहार चला गया। नगरवासी इससे प्रसन्न हुए, उनके मन में भी आया कि वे भी भगवान को भिक्खुसंघ सहित आमन्त्रित करें एवं दान दें, अस्तु, उन्होंने तथागत सहित भिक्खुसंघ को आमन्त्रित किया और राजा को भी आमन्त्रित किया, नगरवासियों ने राजा से बढ़कर दान दिया। राजा ने नगरवासियों को इस तरह दान देते हुए देख भिक्खुसंघ को पुनः आमन्त्रित किया और नगरवासियों से बढ़कर दान दिया, परन्तु नगरवासी पीछे कहां रहने वाले थे, उन्होंने पुनः ऐसा दान दिया कि राजा का दान उसके सामने तुच्छ हो गया।

दान की इस प्रतिस्पर्द्धा में राजा को चिन्ता हुई, वह ऐसा उपाय ढूंढने लगा कि वह इस प्रकार दान देवे कि नगरवासियों के दान से बढ़िया हो, परन्तु उसको कोई उपाय ही नहीं सूझ रहा था। अस्तु, वह पलंग पर जाकर सो गया। रानी मल्लिका ने राजा को सोया हुआ देख उसका कारण पूछा और जानने के बाद रानी मल्लिका बोली 'महाराज ! आप घबरायें नहीं, चिन्ता नहीं करें, भगवान को आमन्त्रित करें और भोजनदान का प्रबंध करें। प्रत्येक भिक्खु के पीछे एक-एक हाथी खड़ा करें, जो श्वेत छत्र के साथ हों। प्रति दो भिक्खु को एक-एक कुमारी पंखा झले तथा बीच में नौका रखें, उसमें गन्ध पीसकर डालें एवं उसको कमल पुष्पों से सुवासित करें, इस प्रकार आपका दान अद्वितीय होगा, नगरवासी ऐसा नहीं कर पायेंगे।

राजा पसेनदि ने भगवान को भिक्खुसंघ सहित आमन्त्रित किया और एक बड़े पाण्डाल में यह व्यवस्था की गयी। बहुत बड़ा और भव्य आयोजन था। सभी नगरवासी देखने आए, उनके पास न तो राजकुमारियां थीं और न श्वेत छत्र और न हाथी, राजा बाजी मार गया। इस समय राजा के दो अमात्य उपस्थित थे। काल अमात्य के मन में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ, 'अहो ! राजकुल की हानि हो रही है। एक दिन में चौदह करोड़ धन का व्यय हो गया। ये भिक्खु इस दान को खाकर सोयेंगे.... राजकुल नष्ट हो रहा है।' दूसरे शुक्ल अमात्य के मन में ऐसे विचार आए, 'अहो! राजा का दान, अद्वितीय है, राजा के अलावा कोई भी ऐसा दान नहीं दे सकता है। सभी सत्त्वों के लिए पुण्य प्राप्ति नहीं दी गयी है, फिर भी मैं अनुमोदन करता हूं।' इस प्रकार उसको राजा के दान से बड़ी खुशी हुई, वह प्रसन्नचित्त था, वहीं काल अमात्य राजा के दान पर क्षोभ कर रहा था और दुखी था।

भोजनोपरान्त महाकारुणिक भगवान ने अपनी दिव्य-दृष्टि दौड़ायी और पाया कि किस प्रकार से काल अमात्य क्षुब्ध है, उन्होंने सोचा, अगर मैं लम्बा अनुमोदन दूंगा तो काल अमात्य और अधिक क्षुब्ध होगा और उसका अगला भव भी खराब होगा। इस प्रकार काल अमात्य के प्रति करुणा के कारण उन्होंने उस दिन संक्षिप्त पुण्यानुमोदन किया और जेतवन विहार आ गए।

राजा इस अवसर पर भगवान से लम्बे पुण्यानुमोदन की अपेक्षा कर रहा था, परन्तु ऐसा हुआ नहीं, इसलिये वह दुखी था, खिन्न था। उसने यह सोचकर कि इतने बड़े अद्वितीय दान देने पर

भी भगवान ने विस्तारपूर्वक अनुमोदन नहीं किया है, वह भगवान के पीछे-पीछे विहार चला गया और वहां जाकर भगवान से इसका कारण पूछा, तब भगवान ने कहा, "हे राजन् ! तुम्हें, प्रसन्न होना चाहिये कि तुमने अद्वितीय दान दिया है। जीवन में ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। बुद्धों के उत्पन्न होने पर एक बार ऐसा अवसर आता है। लेकिन तुम्हारा काल अमात्य सोच रहा था कि यह सब व्यर्थ है और किसी भी तरह से उचित नहीं है। इसलिये अगर मैं विस्तारपूर्वक पुण्यानुमोदन करता तो वह और अधिक खिन्न होता, दुखी होता, सन्तप्त होता, जिसके फलस्वरूप वह अपने इस भव में और अगले भव में दुख को प्राप्त होता।" साथ ही तथागत ने शुक्ल अमात्य के चित्त की दशा भी बताकर कहा कि यही कारण था कि मैंने संक्षिप्त में पुण्यानुमोदन किया।

राजा ने उसी समय काल आमात्य को बुलवा कर निर्वासित कर दिया और शुक्ल अमात्य को सप्ताह भर के लिए राज्य सौंपकर दान देने के लिए कहा। राजा बोला, 'भगवान ! मेरे ऐसे दिये हुए दान पर मूर्ख काल ने प्रहार किया है।' भगवान आगे बोले, 'हां, राजन् ! मूर्ख दूसरे के दान के प्रति अप्रसन्न होकर दुर्गति को प्राप्त होते हैं। विद्वान् लोग दूसरों के द्वारा दिये गए दान पर मुदित होते हैं, प्रसन्न होते हैं और ऐसा पुण्यानुमोदन कर वे दूसरों के द्वारा दिये गए दान के फल में भागीदार बनते हैं और अच्छी गति को प्राप्त होते हैं।' इसी प्रकार धम्मोपदेश करते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

177. न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति, बाला हवे नप्पसंसन्ति दानं।
धीरो च दानं अनुमोदमानो, तेनेव सो होति सुखी परत्थ।। 13.11।।

अर्थ : *कंजूस देवलोक नहीं जाते, मूर्ख दान की प्रशंसा नहीं करते। धैर्यवान आदमी दान का अनुमोदन कर, उसी (कर्म-फल) से परलोक में सुखी होता है।*

शब्दार्थ : वजन्ति = जाते हैं। **नप्पसंसन्ति** = प्रशंसा नहीं करते। **तेनेव** = उसी से।

वग्ग 13, गाथा 12

स्रोतापत्ति-फल श्रेष्ठ है

(अनाथपिण्डिक के पुत्र काल की कथा, स्थान—जेतवन)

178. महोपासक अनाथपिण्डिक के **'काल'** नामक एक पुत्र था। वह भगवान के पास धम्म-श्रवण के लिए नहीं जाता था। जब भगवान अनाथपिण्डिक के घर आते थे, तब भी वह अपने को उनसे दूर ही रखता था। अनाथपिण्डिक उसके बारे में सोचकर बड़ा ही चिन्तित रहता था। अपने पुत्र के इस प्रकार के व्यवहार से वह सोचता कि उसका पुत्र अपना भव बिगाड़ रहा है। कुछ ऐसा करना चाहिये कि पुत्र धम्म की ओर प्रवृत हो। अस्तु, उसने अपने पुत्र को एक सौ मुद्रायें देने का प्रलोभन देकर धम्म श्रवण के लिए जेतवनाराम भेजा। काल सौ मुद्राएं प्राप्त करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाया और जेतवन चला गया। वहां जाकर वह सो गया और दूसरे दिन सवेरे घर लौट आया। अनाथपिण्डिक ने उसे यवागु परोसा, लेकिन काल ने उसे खाने से मना कर दिया

और बोला, 'पहले मुझे सौ कार्षापण दो।' ऐसा कहकर उसने खाना नहीं खाया। अनाथपिण्डिक ने उसे एक सौ मुद्राएं और दीं, तब कहीं जाकर उसने खाना खाया।

दूसरे दिन पुनः अनाथपिण्डिक ने अपने पुत्र से कहा, 'बेटे ! एक हजार कार्षापण दूंगा, आज धम्म श्रवण के लिए जाकर कुछ याद करके आना।' अस्तु, काल विहार में गया और भगवान को अभिवादन कर निवेदन किया कि वह कुछ सीखना चाहता है। भगवान ने उसे छोटा सा वाक्य हृदयंगम करने हेतु बताया। वह उसको याद करने लगा, उसे याद हुआ नहीं, अतः बार-बार उच्चारण करने लगा, रटने लगा। इस प्रक्रिया में उसने धम्म के अर्थ को पकड़ लिया और वह स्रोतापन्न हो गया।

अगले दिन वह भगवान बुद्ध के साथ ही घर आया। अनाथपिण्डिक ने भगवान बुद्ध और उनके भिक्खुसंघ को तथा अपने पुत्र को यवागु भेंट किया। वह अपने पुत्र को एक हजार मुद्रायें देने के लिए भी लाया और काल से कहा, 'पुत्र इसे ग्रहण करो।' काल का चेहरा आज बदला हुआ था, उसका भाव और अभिप्राय बदला हुआ था, उसने उन मुद्राओं को लेने से मना कर दिया। तब अनाथपिण्डिक ने भगवान से कहा, 'भगवान ! मेरा पुत्र बहुत बदल गया है। पहले दिन इसने बिना कार्षापण लिए भोजन नहीं किया था और आज मुद्रायें ले नहीं रहा है। यह व्यवहार तो बड़ा आनन्ददायक है।' भगवान ने कहा, सेठ ! तुम्हारे पुत्र ने आज स्रोतापन्न फल को पा लिया है, उसका फल इन मुद्राओं और चक्रवर्ती सम्राट के खजानों से भी बढ़कर है। आज तुम्हारे पुत्र के लिए चक्रवर्ती सम्राट की सम्पत्ति से और देवलोक तथा ब्रह्मलोक की सम्पत्तियों से भी स्रोतापत्ति-फल ही श्रेष्ठ है। सारी पृथ्वी का अकेला राजा होने से या स्वर्ग गमन से अथवा सारे लोक का स्वामी हो जाने से भी स्रोतापतिफल श्रेष्ठ है। पृथ्वी के एक छत्र राज्य, स्वर्ग में जाने अथवा समस्त लोकों के आधिपत्य से भी स्रोतापतिफल श्रेष्ठ है।' ऐसा धम्मोपदेश देते हुए भगवान ने यह गाथा कही—

178. पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन, सोतापत्तिफलं वरं ।। 13.12।।

अर्थ : समस्त पृथ्वी का अकेला राज्य होने से या स्वर्ग के गमन से अथवा सारे लोकों का स्वामी हो जाने से भी स्रोतापत्ति फल श्रेष्ठ है।

शब्दार्थ : पथव्या एकरज्जेन = चक्रवर्ती राज्य से। **सग्गस्स** = स्वर्ग। **गमनेन** = जाने से। **वा** = अथवा। **सब्बलोकाधिपच्चेन** = लोक अधिपत्य से। **सोतापत्तिफलं** = स्रोतापत्तिफल। **वरं** = श्रेष्ठ है।

3. लोक वग्गो (लोक वर्ग) सार-संक्षेप

क्रम	गाथा क्रम	संदर्भित स्थान	संदर्भित पात्र	संदर्भित उपदेश
167	13.1	जेतवन	दहर भिक्खु	अपने को प्रिय समझने वाला अपने को सुरक्षित रखे। हीन धर्म, प्रमाद और मिथ्यादृष्टि का सेवन नहीं करें संसार में आवागमन को बढ़ाने वाला नहीं बनें।
168	13. 2	निग्गोधाराम	शुद्धोदन	उद्यत होवें, प्रमाद न करें, सदाचार युक्त धर्म का पालन करें व चैन से रहें।